सितम्बर-अक्टूबर 1996 • पन्द्रह रुपये

दायित्वबोध

उन बुद्धिजीवियों की पत्रिका जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है

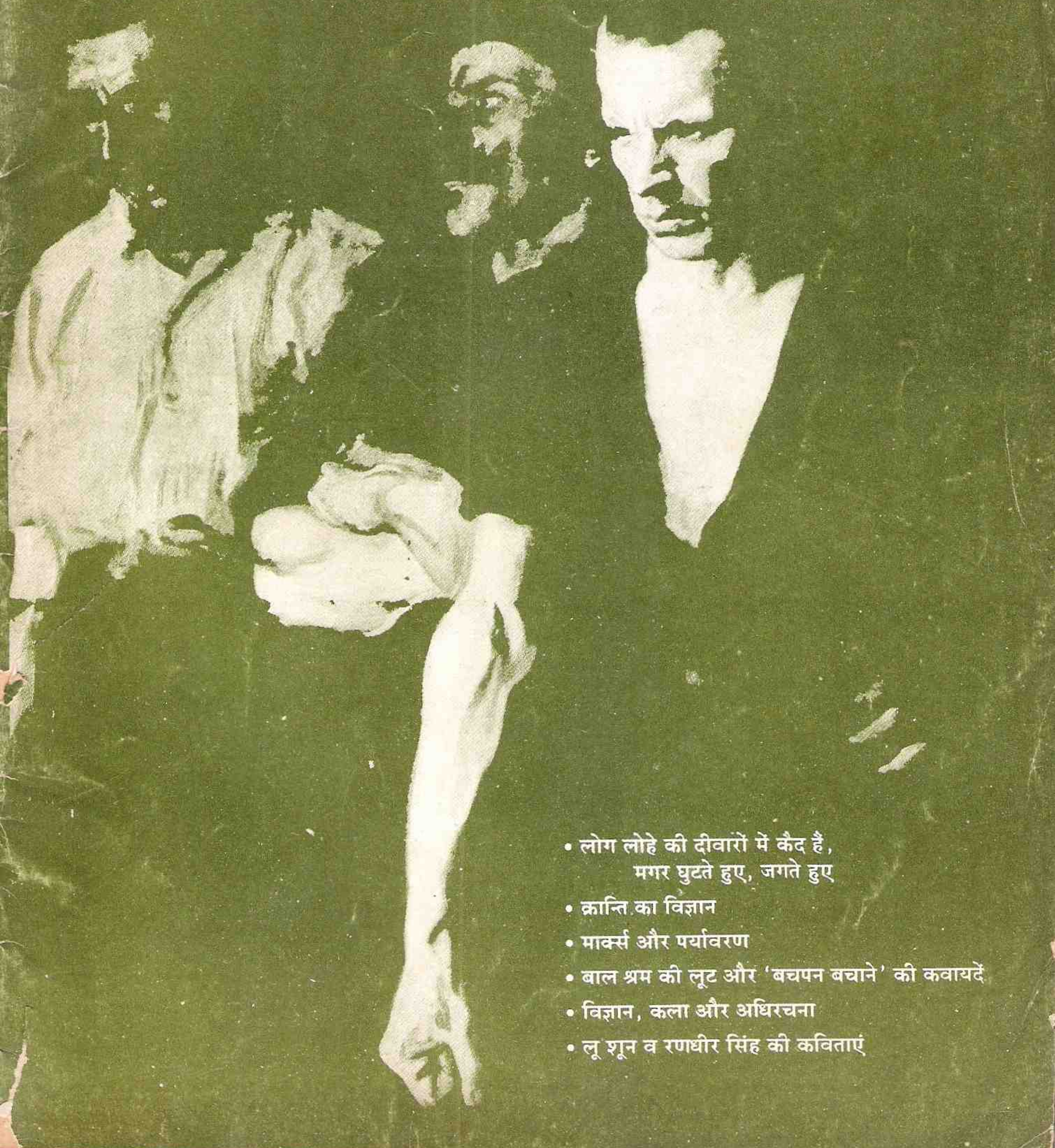

- लोग लोहे की दीवारों में कैद हैं,
  मगर घुटते हुए, जगते हुए
- क्रान्ति का विज्ञान
- मार्क्स और पर्यावरण
- बाल श्रम की लूट और 'बचपन बचाने' की कवायदें
- विज्ञान, कला और अधिरचना
- लू शून व रणधीर सिंह की कविताएं

नया वर्ष
नयी उम्मीदों,
नयी तैयारियों
नयी शुरुआतों के नाम,
पराजय की घड़ी में भी
विजय के स्वप्नों के नाम,
लगातार लड़ते रहने की
ज़िद के नाम,
संकल्पों के नाम
जीवन, संघर्ष और सृजन के नाम

निराशा, पस्तहिम्मती, अनिश्चय और अविवेक
के कुहासेभरे इस माहौल में
अपने अपनों को
आशा, उत्साह और जीवन को बेहतर बनाने के प्रण
से लबरेज़ पैग़ाम भेजिए

सुन्दर, सुरुचिपूर्ण और सोद्देश्य बधाई कार्ड

निराला, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, फ़ैज़, वेणुगोपाल, मयाकोवस्की, जोस दि दिएगो, कात्यायनी आदि की कविताओं और कलात्मक चित्रांकनों से सज्जित तीन से चार रंगों में छपे आकर्षक कार्ड

5 पोस्टकार्ड और 7 फोल्डिंग कार्ड्स का सेट 30 नवम्बर से उपलब्ध

पोस्टकार्ड – 3 रु., बड़े कार्ड (लिफ़ाफे के साथ) – 8 रु.*

सम्पर्क करें : प्रांजल स्क्रीन प्रिण्टर्स एण्ड डिज़ाइनर्स, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ–226 010 ✆ 393896 ❊ जनचेतना स्टाल, काफी हाउस के निकट, हजरतगंज, लखनऊ ❊ जनचेतना, जाफरा बाजार, गोरखपुर ❊ संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, गोरखपुर–273 001

मनीआर्डर और बैंकड्राफ्ट इस पते पर भेजें : प्रांजल स्क्रीन प्रिण्टर्स एण्ड डिज़ाइनर्स, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ –226 010
बैंकड्राफ्ट व चेक कविता श्रीवास्तव के नाम से भेजें।

* आप ये कार्ड खरीद कर जनपक्षधर, प्रगतिशील पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों के प्रकाशन में सहयोग भी करेंगे।

दायित्वबोध

वर्ष–3 अंक–6 सितम्बर–अक्टूबर 1996

प्रधान सम्पादक
विश्वनाथ मिश्र
सहायक सम्पादक
अरविन्द सिंह
संयुक्त सम्पादक
ओमप्रकाश सिन्हा
सत्यम वर्मा
व्यवस्था प्रभारी
मीनाक्षी
प्रसार प्रभारी
आदेश कुमार
आवरण
रामबाबू

आवरण का चित्र
पोलिश पेंटिंग *'स्ट्राइक'*

सम्पादकीय कार्यालय :
3/274, विश्वास खण्ड, गोमती नगर,
लखनऊ–226 010

सम्पादन एवं संचालन
पूर्णतः अवैतनिक एवं अव्यावसायिक

स्वत्वाधिकारी विश्वनाथ मिश्र द्वारा एम. डब्ल्यू. 6/221, बेनीगंज, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर से मुद्रित

कम्पोजिंग
कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन,
3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर,
लखनऊ–10

एक प्रति : 15 रुपये
वार्षिक : 90 रुपये
आजीवन : 1000 रुपये

●

समस्त पत्रव्यवहार केवल सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही करें।

इस अंक में

अपनी बात
लोग लोहे की दीवारों में कैद हैं, मगर घुटते हुए, जगते हुए 4

●

साझा सरकार का साझा न्यूनतम कार्यक्रम
बासी कढ़ी में बघार – *विश्वनाथ मिश्र* 9

●

साहित्यिक अवसरवाद और संस्कृति के बाजारीकरण के खिलाफ ज.ने.वि. के छात्रों की सार्थक पहल 13

●

बाल श्रम
श्रम की लूट पर टिकी व्यवस्था में 'बचपन बचाया' नहीं जा सकता – *मीनाक्षी* 16

●

मार्क्स और पर्यावरण – *जान बेलेमी फास्टर* 20

●

विशेष लेख
क्रान्ति का विज्ञान – *लेनी वुल्फ* 26

●

साहित्य चिन्तन
विज्ञान, कला और अधिरचना – *एमिल बर्न्स* 37

●

आधी जमीन आधा आकाश
कहां गईं स्त्रियां, खट रही हैं भूमण्डलीय असेम्बली लाइन पर – *कात्यायनी* 41

●

मृत्यु के संस्मरण – *के. बालगोपाल* 43

●

लू शून की कविताएं 49

●

ताचाई की कहानी – *चिया वेन–लिङ* 50

●

प्रो. रणधीर सिंह की कविता – हमारे समयों में 53

●

कम्प्यूटर एवं पूंजीवाद : प्रौद्योगिकी का त्रासद दुरुपयोग – *निकोलस बरान* 54

●

पुस्तक चर्चा
'जनवाद' का विभ्रम और सर्वहारा अधिनायकत्व का सवाल 56

पाठकों से .... खेद सहित......

कुछ विवशताओं के कारण हम 'दायित्वबोध' में धारावाहिक प्रकाशित हो रही पुस्तक **'राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त'** की दसवीं किश्त इस अंक में प्रकाशित नहीं कर पा रहे हैं। पाठकों की असुविधा के लिए हमें खेद है। हम क्षमाप्रार्थी हैं। आगामी अंक में हम इस पुस्तक के दो अध्याय (10 और 11) एक साथ प्रकाशित करेंगे। – *संपादक मण्डल*

आपकी बात

'दायित्वबोध' का मार्च-अगस्त' 96 अंक मिला। यह पत्रिका मार्क्सवादी विश्व दृष्टिकोण विकसित करने में बहुत मददगार सिद्ध होगी। रेमण्ड लोट्टा का लेख और शंघाई टेक्स्ट बुक का अंश 'राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त' पढ़ गया। आपको जानकर खुशी होगी कि हमें 1949 से अबतक प्रकाशित 'मंथली रिव्यू' के ज्यादातर अंक मिलने वाले हैं। पत्रिकाएं अमरीका से भेजी जा चुकी हैं। हम पिछले अंकों से चुनींदा लेख प्रकाशित करने पर विचार कर रहे हैं। आपके कोई सुझाव हों तो जरूर लिखें।

— सुभाष ऐकट, पो. हिजली कोआपरेटिव, खड़गपुर - 721306 (पं.बं.)

'दायित्वबोध' की प्रति पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। इसमें बहुत कुछ ऐसी ज्वलित तथा सार्थक वैचारिक सामग्री है जो अनेक बहसों, को बहुत ही ठोस पृष्ठभूमि प्रदान कर उन्हें सही दिशा देगी। आज अनेक मार्क्सवादी लेखक, संपादक भी चिन्तक भी उत्तराधुनिकता की गिरफ्त में हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम अपनी जाति पहचान खोकर उस सड़े-गले कचरे पर उन मुर्गों की तरह फुदक रहे हैं जो गन्दगी में दाना खोज कर अपनी भूख मिटाते हैं और फिर कचरे को खंगालने लगते हैं। हिन्दी जाति के लोग अभी न तो उतने सजग हैं और न संगठित जो साम्राज्यवादी देशों से आयातीत इस कचरे के ढेर में आग लगाकर उसे राख बना दें। महानगरों में यह संक्रामक रोग भयानक है -- अब जनपदों की तरफ भी बढ़ रहा है। 'दायित्वबोध' सही प्रतिरोध की शक्ति और क्षमता पैदा करेगा, हमारा विश्वास है।

'दायित्वबोध' की प्रति ही ने मुझे आपके प्रति बेहद आकर्षित किया है। आपने 'साहित्य चिन्तन' स्तम्भ में डेविड मैक्नेली के आलेख "भाषा, इतिहास और वर्ग संघर्ष" को अनूदित कर प्रकाशित किया है। इसके लिए मैं आपको हार्दिक बधाई देता हूं। आपसे आग्रहपूर्वक निवेदन है कि आप हमें उत्तर आधुनिकतावाद और उत्तर संरचनावाद के द्वारा उठाये गये भाषा विषयक विचारों के प्रतिरोध में अपने विचार बहुत ही सरल भाषा में भेजें। बेहतर हो आप 'पहल - 53' में सुधीश पचौरी के उस पुस्तक खंड को पढ़ लें जिसे 'देरिदा का विखण्डन' (वाम्ने नागार्जुन और भर्तृहरि) शीर्षक से प्रकाशित किया गया है। मुझे लगता है इस प्रकार की बहस और समीक्षा हमारे नये-नये लेखकों में बड़ा भारी भ्रम पैदा करेगी। आप इस प्रस्थापना का जोरदार रचनापरक खण्डन यदि लिख सकें तो हम उसे 'कृति ओर' में प्रमुखता से छापेंगे। इस कुप्रवृत्ति का इसी स्तर पर विरोध बहुत जरूरी है। आप स्वयं सारी चीजों को समझते हैं। मुझे केवल संकेत से ही अपनी बात कहनी है।

हमारी पत्रिका कविता केन्द्रित है। फिर भी हम चाहते हैं कि ऐसी बहसों का प्रतिरोध होते रहना चाहिए जो हमें सही रास्ते से भटकाती हैं।

— विजेन्द्र, संपादक 'कृति ओर', सी - 133, वैशालीनगर, जयपुर

'दायित्वबोध' के नवम्बर '95-फरवरी '96 तथा मार्च-अगस्त '96 अंक मिले। काफी दिनों बाद आये दोनों अंक पूरी तैयारी के साथ निकाले गये हैं। नवम्बर-फरवरी '96 अंक में सभी लेख प्रासंगिक हैं। खासकर लेनिन और माओ के लेख मौजूदा समय में दिशा निर्देशक हैं। डा. चमनलाल के लेख 'जनता के साहित्य की पहचान' के अलावा विश्वनाथ मिश्र का लेख तथा संपादकीय टिप्पणी भी ध्यान आकर्षित करते हैं।

गत अंक के संपादकीय में जिस वर्तमान राजनीतिक संकट की ओर संकेत किया गया है तथा उसकी पड़ताल की आवश्यकता बताई है वह इसलिए भी अहम है कि देश की अर्थव्यवस्था पर विदेशी पूंजी का दबाव बढ़ता जा रहा है। इसलिए आपने व्यवस्था के संकट के काल को क्रान्तिकारी काल में रूपान्तरित करने की कोशिश की शुरुआत करने की जो बात कही है, वह गौरतलब होने के बावजूद गंभीर चर्चा का विषय है। इस पर अलग से संगोष्ठी आयोजित करने की आवश्यकता है। इसके अलावा 'भाषा, इतिहास और वर्ग संघर्ष' पर डेविड मेक्नेली का महत्वपूर्ण आलेख देकर आपने अच्छा किया है। अन्य सामग्री भी पठनीय है।

— रामनिहाल गुंजन, नया शीतल टोला, आरा, बिहार - 80230

'दायित्वबोध' जैसी सार्थक, गम्भीर और वैचारिक समझ को परखा करने वाली पत्रिकाओं की आज अत्यन्त जरूरत है। पत्रिका न सिर्फ हमारे बोध को विकसित करती है बल्कि संवेदनात्मक धरातल पर भी स्पर्श करती है। हावर्ड फास्ट के उपन्यास 'दि अमेरिकन' के अंश इस अंक की खास उपलब्धि है। हो सके तो अगले अंकों में इसे निरन्तर छापें। मैं 'दायित्वबोध' के प्रसार में आपका सहयोग करना चाहता हूं। आप मेरे पास तीन प्रतियां भेज दिया करें, बाद में बढ़ायेंगे। दायित्वबोध पुस्तिकाएं भी जरूर भेजा करें। अपने सभी प्रकाशनों की नियमित जानकारी देते रहा करें।

— हरियश राय, ए-205, सुजल अपार्टमेंट, सेटेलाइट रोड, रामदेव नगर, अहमदाबाद - 54

'दायित्वबोध' तथा दायित्वबोध पुस्तिका - दो व तीन हमें प्राप्त हुई। हम सब (यहां के सारे कामरेड्स) बहुत प्रसन्न हुए। हम यहां 'समुद्रडि समुद्रम' नामक ग्रंथालय चला रहे हैं। हिन्दी साहित्य की बहुत कमी है। आप लोगों की सहायता से यहां के कामरेड लाभान्वित हो सकेंगे। यह सिलसिला जारी रखियेगा।

— नईमोद्दीन एम. डी., राजनीतिक बंदी, सेंट्रल जेल सिकन्दराबाद, आंध्रप्रदेश

'दायित्वबोध' अपनी पक्षधरता जनता के पक्ष में स्पष्ट कर अपने नाम को सार्थक कर रहा है। मार्च-अगस्त '96 के अंके में मूमिया अबू जमाल की घटना पाठकों को झकझोरती है। सम्पादकीय लेख में भविष्य की भयावह तस्वीर पेश की गई है जिसके प्रति जनता झूठी उम्मीदें पाले है। कात्यायनी ने नारीवादी लेखन की समस्याओं को उठाकर सृजनात्मक लेखन में बहस को स्थान देने का प्रयास किया है। पत्रिका में अनुवाद के अंश ज्यादा हैं, इन्हें कम कर मौलिक हिन्दी लेखन को स्थान दिया जाना चाहिए। पत्रिका नियमित होनी चाहिए।

— हितेन्द्र कुमार मिश्र, शोध छात्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

(पृष्ठ 8 पर जारी)

लोग लोहे की दीवारों में कैद, मगर घुटते हुए, जगते हुए...

चर्चा विश्व पूंजीवाद के वर्तमान संकटों की असमाधेयता जैसी स्थिति और उसके नये-नये रूपों की हो रही थी कि एक मित्र ने कहा, ''...*फिर भी, दुनिया में एक निराशा और अकर्मण्यता भरी चुप्पी है। कोई यह मानने को तैयार नही कि कुछ होने वाला है। और कुछ बुद्धिजीवी हैं जो बस अवसाद भरे स्वर में मूर्त समस्याओं पर अमूर्त बकवास किये चले जा रहे है।''*

यह कहने में मुझे क्षण भर भी सोचने की जरूरत नहीं महसूस हुई, और अब भी मैं यही मानता हूं कि **ऐसा नहीं है।**

लू शुन ने अपनी रचनात्मक सक्रियता की पूर्ववेला के निराशापूर्ण दौर के बारे में एक संस्मरण लिखा है जब वे एक हॉस्टल में एकाकी निरुद्देश्य जीवन बिता रहे थे। उनका पुराना मित्र **चिन-शिन-ई**, जो चीन के क्रान्तिकारी नवजागरण के प्रथम अग्रदूत की भूमिका निभाने वाली पत्रिका **'नया नौजवान'** का संपादक था, प्रायः उनसे मिलने आता था और कुछ सार्थक करने के लिए प्रेरित करता रहता था। एक बार लू शुन ने उससे कहा, ''*कल्पना करो, लोहे की मोटी दीवारों वाला मकान है। न कोई दरवाजा है और न खिड़की या रोशनदान। हवा आने के लिए कोई रास्ता नही है। दीवारें बेहद मजबूत हैं। मकान में बहुत से लोग बेसुध सोये हुए हैं। निश्चय ही वे लोग घुटकर मर जायेंगे। परन्तु बेसुधी से मरेंगे, इसलिए उन्हें कोई कष्ट अनुभव नही होगा। तुम चीख-चिल्लाकर उन्हें जगाना चाहो तो संभव है कुछ एक की नीद उचट भी जाये। और निश्चित मृत्यु की यातना अनुभव करें तो इससे उनका क्या भला होगा?''*

''*अगर अभेद्य दुर्ग में बाहरी आवाज से कुछ की नीद उचट सकती है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उस लौह-कारागार को तोड़ने की कोई आशा नही है?*'' यह चिन-शिन-ई का उत्तर था।

आज पूरी दुनिया की और हमारे देश की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है कि लोग मानो लोहे की मोटी दीवारों वाले एक अभेद्य मकान में कैद हैं। पर सबसे अहम बात यह है कि वे बेसुध सोये नहीं पड़े हैं। सभी घुट रहे हैं और जगते जा रहे हैं। यदि इतिहास से सबक लेने का कोई मतलब है तो विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि लौह कारागार टूटेगा।

यह वर्ष भारतीय स्वाधीनता संग्राम की महान घटना **नाविक विद्रोह** (1946) की पचासवीं वर्षगांठ का वर्ष है और इसी विद्रोह के एक सेनानी **सुरेन्द्र कुमार** के एक संस्मरण की ये अंतिम पंक्तियां उपरोक्त प्रश्न पर विचार करते समय मेरे जेहन में उमड़-घुमड़ रही हैं :

''जहां तक क्रान्ति के मील के पत्थरों का प्रश्न है, उन पत्थरों के नीचे पवित्र आदर्शों के जो बीज दबे पड़े है वे, आशा करनी चाहिए, सड़ नहीं गये है, शायद कभी अंकुरित हो उठें, प्रस्फुटित हो जायें और वे आदर्श अपना रंग लाने लगें। 1871 की पेरिस क्रान्ति ने, 1917 में रूस की अक्टूबर क्रान्ति का पथ प्रशस्त किया, उस अक्तूबर क्रान्ति को उसकी संतान सम्हाल नहीं पाई, परन्तु उसकी जड़ें तो इतनी मज़बूत है कि पता नही कब और कहां किसी और भी भव्य, उत्तुंग, प्रलयंकारी क्रान्ति को जन्म दें। संसार से क्या भूख, गरीबी, शोषण, नवउपनिवेशवादी अभिशाप मिट गये है? इसी में समकालीन विभ्रान्तियों के निवारण का बीज छुपा है।'' *(नाविक विद्रोह की याद : 'पहल'- 53, जनवरी-मार्च '96)*

और फिर **लेनिन** की ये पंक्तियां :

''एक कदम आगे, दो कदम पीछे.... यह व्यक्तियों की ज़िन्दगी में भी होता है और राष्ट्रों के इतिहास में तथा पार्टियों के विकास में भी। एक क्षण के लिए भी क्रान्तिकारी सोशल डेमोक्रेसी (यानी क्रान्तिकारी सर्वहारा आंदोलन के दर्शन -- मार्क्सवाद) **के सिद्धान्तों की अपरिहार्य तथा पूर्ण विजय में संदेह करना, घोर अपराधपूर्ण कायरता होगी।''**

(कलक्टेड वर्क्स, खण्ड-7, पृ. 414)

इन पंक्तियों को भूल जाना, और फिर भी अपने को सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान में विश्वासी बताना -- यह भी शायद एक घोर अपराधपूर्ण कायरता ही होगी।

विश्व पूंजीवाद के अभेद्य से प्रतीत हो रहे लौह कारागार की वास्तविकता यह है कि उसकी दीवारें जंग खाकर भीतर से जर्जर हो चुकी है और उन पर, जगह-जगह जन-प्रतिरोध का दबाव बढ़ता जा रहा है। घुटते हुए लोग जगते जा रहे हैं और इस दुर्ग की दीवारों से जूझ रहे हैं।

औपनिवेशिक और फिर नवऔपनिवेशिक लूटमार की सदियों पुरानी प्रयोग-भूमि लातिन अमेरिका में, जो अदम्य जन-संघर्षों, उभारों और दुर्द्धर्ष जनक्रान्तियों की भी प्रयोग भूमि रही है, एक बार फिर लोग उठ खड़े हो रहे हैं। इन देशों के पूंजीपति शासक वर्गों ने निजीकरण-उदारीकरण की पश्चिमाभिमुखी पूंजीवादी नीतियों को भारत से भी लगभग डेढ़ दशक पहले लागू करना शुरू किया था। वहां वे नतीजे सामने हैं जो आगे, बहुत जल्दी ही भारत में भी सामने आयेंगे। अमेरिकी साम्राज्यवाद के पूरे सहयोग के बावजूद पेरू की जनक्रान्ति की आग बुझ नहीं सकी है। कोलम्बिया, अल-सल्वाडोर, ग्वाटेमाला आदि देशों में नये सिरे से शुरू हुए सशस्त्र छापामार संघर्षों के साथ मजदूर हड़तालों, छात्र आन्दोलनों और मंहगाई-बेरोजगारी विरोधी जनान्दोलनों का सिलसिला भी लगातार जारी है। मेक्सिको के चियापास प्रांत से शुरू हुए जपाटिस्टा किसान-संघर्ष को आगे बढ़ने से भले रोक दिया गया हो, पर उसे नष्ट नहीं किया जा सका है और धीरे-धीरे असंतोष की आग देश के अन्य हिस्सों में भी फैलती जा रही है। यही नहीं, चियापास के अतिरिक्त दक्षिण मेक्सिको के कुछ अन्य प्रांतों में भी छापामार संघर्ष शुरू हो चुके हैं। ताजा समाचारों के अनुसार, (***रेवोल्यूशनरी वर्कर***, सं. 875, सितंबर 29, 1996, शिकागो, अमेरिका) ग्वेरेरो, चियापास और अन्य दक्षिण मेक्सिकी प्रांतों में **'पीपुल्स रेवोल्युशनरी आर्मी** (ई.पी.आर.) नामक एक नये छापामार संगठन की सशस्त्र कार्रवाईयों ने इन दिनों जेडिल्लो सरकार और उसके अमेरिकी सरपरस्तों की नींद हराम कर रखी है। स्पष्ट है कि भूमण्डलीकरण की ''सौगातों'' को जनता चुपचाप बस स्वीकार नहीं कर रही है, बल्कि वह जवाबी ''सौगातें'' भी भेज रही है। लोग चुप नहीं हैं।

और अब यह लहर एशिया के देशों में भी फैल रही है। तीस वर्षों पहले दस लाख कम्युनिस्टों को मौत के घाट उतारकर, अमेरिकी साम्राज्यवादियों के पूरे समर्थन से निरंकुश सत्ता स्थापित करने वाले सुहार्तो के खिलाफ इण्डोनेशिया में व्यापक जनांदोलन फूट पड़ा है और हालांकि जनतंत्र के मुद्दे को लेकर आंदोलन का नेतृत्व मुख्यतः मेघावती सुकर्णपुत्री की बुर्जुआ जनवादी,,सुधारवादी पार्टी कर रही है, पर सत्ता और पूंजीवादी मीडिया को ''लाल आतंक'' का हौवा सताने लगा है और वे गला फाड़-फाड़कर इस बारे में चिल्लाने लगे हैं। फिलिप्पीन्स में तानाशाह मार्कोस के उत्तराधिकारियों का बुर्जुआ जनवादी मुखौटा उतर चुका है और दशाब्दियों से वहां क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के नेतृत्व में जारी सशस्त्र संघर्ष ठहराव तोड़कर एक बार फिर नया संवेग ग्रहण करने लगा है। थाइलैण्ड,, दक्षिण कोरिया, ताइवान, आदि जिन देशों को साम्राज्यवादी, पिछड़े देशों में पूंजीवादी विकास के मॉडल के रूप में प्रस्तुत कर रहे थे, उनकी अर्थव्यवस्थाओं में ठहराव के लक्षण प्रकट होने के साथ ही इस ''विकास'' की कीमत अपनी गरीबी और बदहाली से चुकाते आ रहे लोग सड़कों पर उतर पड़े हैं, इनमें दक्षिण कोरिया अग्रणी है। भारत भी आज एक ऐसी ही स्थिति के ज्यादा से ज्यादा करीब पहुंचता जा रहा है।

●

चुप्पी या शांति भूतपूर्व सोवियत संघ के घटक देशों और पूर्वी यूरोप के देशों में भी नहीं है। पश्चिमी पूंजी के प्रवाह से स्वर्ग-निर्माण के सपनों को धूल में मिलने में चन्द-एक वर्षों का समय भी नहीं लगा। समाजवादी मुखौटा लगाये संशोधनवादियों के भ्रष्टाचार और वर्णसंकर राजकीय पूंजीवाद से ऊबे लोगों ने पश्चिमी ढंग के खुले पूंजीवाद का विकल्प चुना।

पश्चिमी साम्राज्यवाद का दशाब्दियों का कुचक्र सफल हुआ। पर मोहभंग होते एक वर्ष भी नहीं लगा। भूख, गरीबी, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी-मंहगाई, अपराध और भीषण असमानता में डूबा नये जार येल्त्सिन का रूस खौल रहा है। सड़कों पर गत चार वर्षों से प्रदर्शनों-झड़पों का सिलसिला जारी है। रूस, सोवियत संघ के अन्य घटक देशों और पूर्वी यूरोप के देशों में, भूतपूर्व सत्ताधारी संशोधनवादी अपना ख्रुश्चेवी चोला उतारकर और काउत्स्की के पुराने सोशल डेमोक्रेटिक चोले को पैबन्द लगाकर, रफू करके पहनकर या तो सत्ता में आ चुके हैं या आने के लिए प्रयासरत हैं। पर स्थितियां यहीं रुकी नहीं हैं। लगातार बढ़ती जिन्दगी की परेशानियां जनता को एक बार फिर अक्टूबर क्रान्ति और स्तालिन काल (1953 तक) की समाजवादी उपलब्धियों की याद दिला रही हैं। रूस, उक्रेन और अन्य देशों में ऐसे क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट संगठन भी अस्तित्व में आ चुके हैं जो पूंजीवादी जनवाद के संसदीय मोतियाबिन्द से मुक्त होकर अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करण की बात कर रहे हैं। स्तालिन काल के बाद से ही पूंजीवादी पुनर्स्थापना को आज ये संगठन माओ के नेतृत्व वाली चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की ही तरह स्वीकार कर रहे हैं तथा शांतिपूर्ण संक्रमण के सिद्धान्त को खारिज कर रहे हैं। अपनी बहुतेरी गंभीर विचारधारात्मक कमजोरियों और समाजवाद की समस्याओं एवं पूंजीवादी पुनर्स्थापना के बुनियादी आर्थिक एवं अधिरचनात्मक कारणों को पूरी तरह न समझ पाने के बावजूद ये नये राजनीतिक संगठन सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी हिरावल हैं -- यह तय है। मुख्य बात यह नहीं है कि आज ये कितने शक्तिशाली हैं। मुख्य बात है इन नई राजनीतिक प्रवृत्तियों-परिघटनाओं का अस्तित्व में आना।

चीन में भी, जहां माओ के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी ने आज से 40 वर्षों पूर्व ख्रुश्चेव के नकली कम्युनिज्म के विरुद्ध संघर्ष चलाया था और 30 वर्षों पूर्व महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के सिद्धान्त और व्यवहार के जरिए पूंजीवादी पुनर्स्थापना के खतरों का समाधान प्रस्तुत किया था, आज चुप्पी नहीं है। सच तो यह है कि 1976 में प्रतिक्रान्तिकारी तख्तापलट करके ''चार आधुनिकीकरण'' के नाम पर पूंजीवाद बहाल करने की नीतियां लागू करने वाले देङपंथी शासक बीस वर्षों के दौरान कभी भी चैन की सांस नहीं ले सके। माओ की यह भविष्यवाणी अक्षरशः सही साबित हुई कि पहली सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के बाद, यदि चीन में पूंजीवादी पथगामी सत्ता पर काबिज होने में कामयाब हो भी गये, तो कभी चैन की सांस नहीं ले पायेंगे। और अब स्थितियां और आगे विकसित हो रही हैं। पूंजीवादी मीडिया में गत वर्ष ऐसी रिपोर्टें आई थीं जिनमें चीन के ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों के विद्रोहों की खबरें आई थी। 'फानशेन' और 'शेनफान' के लेखक विलियम हिण्टन ने भी अपने ताजा चीन प्रवास के बाद इस बात की पुष्टि की थी कि चीन के किसान और मजदूर आज फिर मानो माओ-काल के 'नास्टैल्जिया'

में जीने लगे हैं। चीन के कुछ गांवों में पिछले दिनों किसानों ने भंग किये गये कम्यूनों को खुद ही फिर से गठित कर लिया। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर के कला-साहित्य और फिल्मों के प्रति व्यापक रुचि फिर से पैदा हुई है। चीन की नई पूंजीवादी सत्ता के आंतरिक अंतरविरोध तीखे होते जा रहे हैं और जनता के बगावती तेवर भी मुखर होते जा रहे हैं।

●

समाजवाद पर अंतिम विजय का दम भरते विश्व पूंजीवाद के सुदृढ़तम दुर्गों में भी खलबली है। फ्रांस और ब्रिटेन में पिछले दिनों हुई हड़तालें और 1992 में अमेरिका में भड़क उठे अश्वेत जन-उभार जैसी घटनाएं अब पश्चिमी दुनिया में अपवाद नहीं मानी जा रही हैं, बल्कि भावी तूफान के पूर्व संकेत मानी जा रही हैं।

पश्चिम विजयोन्माद के बजाय भयोन्माद से ग्रस्त है। पश्चिमी दुनिया के थिंकटैंक लगातार समाजवाद (जिसे वह ''हरा'' चुकी है) की बुराइयां गिना रहे हैं, आलोचनाएं कर रहे हैं, पर लाख चाहकर भी वे पूंजीवाद के भविष्य के बारे में आशावादी बातें नहीं कर पा रहे हैं। वर्तमान दीर्घकालिक मंदी और ठहराव की अभूतपूर्व स्थिति की बहुतेरी व्याख्याएं प्रस्तुत की जा रही हैं, पर समाधान के नाम पर कुछ फौरी नुस्खों से अधिक कुछ भी प्रस्तुत कर पाना संभव नहीं हो पा रहा है। अमेरिकी प्रतिक्रियावादी पत्रिकाएं भी इधर स्वीकारने लगी हैं कि समाजवादी देशों की बाहरी चुनौती की अनुपस्थिति के बावजूद, ''परिधि के देशों'' में संकट क्रान्तिकारी विस्फोट की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं और विकसित पश्चिमी विश्व के भीतर अपनी आंतरिक गति से प्रबल सामाजिक विस्फोटों की संभावनाएं जन्म ले रही हैं।

आज से ठीक एक वर्ष पूर्व 'दायित्वबोध' के इन्हीं पन्नों पर हमने लिखा था : **''सिर्फ यही एक बात पूंजीवाद की सिद्धावस्था -- विश्वव्यापी बाजार अर्थतंत्र की मुक्तावस्था में इंसानियत की सभी भीषण समस्याओं का समाधान देखने के दावों को थोथा सिद्ध कर देती है कि पूंजी का जो भी विश्वव्यापी प्रसार आज दिखायी दे रहा है, वह विश्व के सभी मुद्रा-बाजारों में ऋण सर्जन में सतत् वृद्धि, मुद्रा-पूंजी के अंतरराष्ट्रीय आवागमन और सट्टेबाजी के रूप में है। विनिर्माण (मैन्यूफैक्चरिंग) और कच्चे माल के दोहन जैसी उत्पादक कार्रवाइयों से दूर, जो भी निवेश हो रहा है वह मुख्यत: शेयर बाजर, बीमा आदि अन्य वित्तीय क्षेत्रों, विज्ञापन, मीडिया आदि में हो रहा है। यानी आज वित्तीय प्रसार को गति एक स्वस्थ वास्तविक अर्थव्यवस्था के विकास से नहीं बल्कि उसके ठहराव से मिल रही है। यानी पूंजी संचय की क्रिया आज पूंजीवादी सामाजिक-आर्थिक दायरे में परिमाणात्मक विकास या प्रगति का भी द्योतक नहीं रह गयी है, बल्कि इसके विपरीत एक भीषण विध्वंसक शक्ति बन गई है -- पूंजीवाद के लिए भी, आम जनता के लिए भी। इस नये किस्म की वित्तीय संरचना का गठन द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में शुरू हुआ और 1974-75 की तीव्र मंदी के बाद के गुजरे पांच वर्षों में, एक के बाद एक -- नये-नये अप्रत्याशित रूपों में इसके आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक परिणाम इस कदर सामने आये हैं, मानो इतिहास ने दुलकी चाल से चलना शुरू कर दिया हो। सामाजिक साम्राज्यवादी सोवियत संघ के विघटन के बाद पश्चिम की विश्व विजय की दंभकारी घोषणाओं के बीच और समाजवाद की मृत्यु के दावों के बीच, विश्व पूंजीवाद, जो भूमण्डलीकरण के बाद हूबहू शाब्दिक अर्थों में बहुत अधिक विश्व पूंजीवाद है, गत पांच वर्षों के दौरान शताब्दी के गंभीरतम संकट का सामना कर रहा है और आने वाले दशकों में इससे मुक्ति का कोई मान्य नुस्खा उसके किसी भी सिद्धान्तकार को नहीं सूझ रहा है। तब क्या अपनी तमाम दहाड़ों के बावजूद, वह अपने को पहले हमेशा से भी अधिक स्पष्ट रूप में कागजी बाघ नहीं सिद्ध कर रहा है?''**

('अपनी बात' : दायित्वबोध, नवम्बर '95 - फरवरी '96 पृ. 6-7)

हम समझते हैं कि गुजरे एक वर्ष के समय ने इस सचाई को और अधिक पुष्ट किया है तथा इसके कुछ और आयामों को उद्घाटित किया है। समाज और क्रान्ति के विज्ञान की औसत समझ को तिलांजलि देने के बाद ही यह माना जा सकता है कि यह विश्वव्यापी सामाजिक-आर्थिक संरचना अमर है और यह कि यह 'इतिहास का अंत' है। यदि हमें आज विश्व पटल पर संगठित होती हुई क्रान्तियां दिखाई नहीं दे रही हैं, तो यह मान लेना कि अपनी स्वतःस्फूर्त आंतरिक गति से बेरोजगारी, असमानता, गरीबी अन्याय, युद्धों और तमाम आपदाओं को जन्म देने वाले विश्व-पूंजीवाद को दुनिया के अरबों मेहनतकशों ने अपनी नियति के रूप में स्वीकार कर लिया है, निरी मध्यवर्गीय निराशावादी कूपमण्डूकता होगी। और फिर यह तो आज साफ नज़र आने वाला सतह का यथार्थ है कि सन्नाटा टूट रहा है -- लातिन अमेरिका, पूर्वी यूरोप और अफ्रीका से लेकर एशिया तक।

●

राष्ट्रीय सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिदृश्य की ओर देखें। वर्तमान राजनीतिक संकट अस्थिरता और तमाम घपलों-घोटालों के रेलमपेल के रूप में सामने आये पूंजीवादी संसदीय राजनीति के कुरूपतम चेहरे को यदि नई आर्थिक नीतियों पर अमल के करीब पांच वर्षों के दौरान उत्पादन और विनिमय की पूरी प्रणाली में आये बदलावों, तज्जन्य मंदी, ठहराव और अनिश्चितता के असमाधेय संकट और अभूतपूर्व रफ्तार से बढ़ती गरीबी, मंहगाई, बेरोजगारी एवं असमानता के साथ, सामाजिक अराजकता और अपराध की संस्कृति के साथ और छिटपुट आंदोलनों के रूप में इधर लगातार फूटते रहने वाले सुलगते जन-असंतोष के विस्फोटों के साथ जोड़कर देखें, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि **एक ओर जहां बढ़ते संकटों के दबाव में भारतीय पूंजीवादी राज्यसत्ता निरंकुशशाही की ओर डग भर रही है, वहीं**

पूरा भारतीय समाज एक प्रचण्ड जनज्वार की ओर कदम बढ़ा रहा है।

राजनीति अर्थनीति की ही सर्वाधिक घनीभूत अभिव्यक्ति होती है। आज केन्द्र से लेकर उत्तर प्रदेश सहित विभिन्न राज्यों में जो राजनीतिक अस्थिरता व्याप्त है, वह दरअसल आर्थिक अस्थिरता की ही घनीभूत अभिव्यक्ति है। घपलों-घोटालों, सांसदों-विधायकों की खरीद-फरोख्त और गुण्डागर्दी-दलाली की वर्तमान राजनीतिक संस्कृति आज के दौर के रुग्ण पूंजीवाद की राजनीतिक संस्कृति है। लाभ के आगे अतिलाभ और फिर उससे भी आगे खुली लूट को, किसी भी तरह से धनी हो जाने की प्रवृत्ति को खुली नैतिक स्वीकृति देने वाले पूंजीवाद की, हर वस्तु की ही नहीं बल्कि मनुष्य की बौद्धिक-शारीरिक श्रमशक्ति तक की उपयोगिता उसके ज्यादा से ज्यादा बिकाऊ माल होने की स्थिति में देखने वाले पूंजीवाद की, यही राजनीतिक संस्कृति हो सकती है। साम्राज्यवाद की सदी के इस अंतिम दशक में, अमेरिका में या भारत में -- कहीं भी पूंजीवाद के पास कोई आदर्श तो दूर, कोई लोकरंजक नारा भी नहीं रह गया है। जाहिरा तौर पर इस स्थिति में पूंजीवादी राजनीति का वीभत्सतम रूप सामने आना था। यही कारण है कि आज भारत की संसदीय राजनीति दलाली, गुण्डागर्दी, डकैती, मौकापरस्ती के अतिरिक्त कुछ नहीं रह गई है।

नई आर्थिक नीति समूचे भारतीय शासक वर्ग और साम्राज्यवाद की, सभी संसदीय बुर्जुआ पार्टियों की आम सहमति की नीति है। विवाद और मतभेद केवल निचोड़े गये अतिलाभ में अलग-अलग शासक वर्गों के हिस्से को लेकर है। इस आम सहमति का एकमात्र अर्थ यह है कि **शासक वर्ग के सामने पूंजीवादी विकास के दायरे के भीतर विकल्प घटते-घटते अपने अंतिम बिन्दु तक जा पहुंचे है तथा पूंजीवादी अर्थनीति और राजनीति के खेल के मैदान बेहद सिकुड़ गये है।** बुनियादी नीतियों पर आम सहमति के ऐसे दौर में बुर्जुआ संसद के चुनाव यदि सिर्फ समाज के जातिगत-साम्प्रदायिक विभाजन के आधार पर लड़े जा रहे हैं और निकृष्टतम कोटि के अवसरवादी गठबंधनों, पालाबदल और खरीद-फरोख्त का बाजार गर्म है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

ऐसी स्थिति में, कोई चरम निराशावादी या परले दर्जे का मूर्ख ही यह सोच सकता है कि सबकुछ ऐसे ही चलता रहेगा और जनता गहरी नशे की नींद में पड़ी रहेगी। यह भी कोई कूपमण्डूक ही सोच सकता है कि मौजूदा आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था के दायरे के भीतर सुधार करके इसे जनकल्याणकारी बना पाने की कोई गुंजाइश शेष बची है, क्योंकि यदि यह संभव होता तो अबतक हो चुका होता।

इसलिए यह तय है कि **चीजें बदलनी हैं। लोगों को जागना ही है। लोग जागेंगे। और अब यह सुदूर भविष्य की बात नहीं है। इतिहास से ऐसे संकेत मिलने लगे हैं।**

●

'रेवोल्यूशनरी वर्कर' (29 सितम्बर, 1996) में मेक्सिको में ई.पी.आर. की छापामार कार्रवाइयों पर प्रकाशित एक रिपोर्ट में मेक्सिको की आम जनता में व्याप्त असंतोष की चर्चा करते हुए हुआतुल्को शहर के एक तीस वर्षीय व्यक्ति के उद्‌गार का हवाला दिया गया है, जो वहां के आम जनमानस को प्रकट करता है। उस व्यक्ति ने रिपोर्टर से कहा, ***''लोरा भ्रष्टाचार से तंग आ चुके है और राष्ट्रपति के यह कहने से तंग आ चुके है कि हालात बेहतर हो रहे है जबकि वास्तव में उनकी जिन्दगी बद से बदतर होती जा रही है। यदि सरकार जनता की समस्याओं पर ध्यान नही देगी तो उसे एक क्रान्ति का सामना करना पड़ेगा। यही मेक्सिको की वास्तविकता है।''***

यही वास्तविकता भारत की भी है। और भारत का आम मेहनतकश अवाम भी तेजी से इस नतीजे पर पहुंचता जा रहा है। राजनीतिक आज़ादी के गुजरे पचास वर्षों के समय के अनुभव और रोजमर्रे की जिन्दगी की बढ़ती परेशानियां उसे धकेलकर इस नतीजे पर पहुंचा रही है।

लोग लोहे की दीवारों वाले अभेद्य दुर्ग में कैद तो हैं, मगर जग रहे हैं। घुट रहे हैं। सवाल यह है कि आह्वान करने वाले लोगों में लगातार उन्हें आवाज देने की जिद, संकल्प और धीरज है या नहीं! सवाल यह है कि क्या वे जनता को लौह-कारागार को तोड़ डालने की तरकीब और तरीका बताने की समझ और सूझ-बूझ भी रखते हैं या नहीं! सवाल यह है कि वे इसका जोखिम उठाने के लिए और क़ीमत चुकाने के लए तैयार है या नहीं! ●

आपकी बात... (पृष्ठ 4 से आगे)

पत्रिका की पांच प्रतियां मिल गई। शिमला इस दृष्टि से बहुत छोटा शहर है। यहां लेखक और बुद्धिजीवी भी पर्यटक ज्यादा हैं। आश्चर्य यह है कि वे खरीदकर नहीं पढ़ना चाहते, पत्रिका दान रूप में मांगते है। भले ही क्लब में हमारी जेबें कट जाएं। फिर भी इस बीच जितना हो रहा है, संतोष है। मेरे पास काफी पत्रिकाएं आ रही हैं। इस बहाने यह तो पता लग रहा है कि कहां क्या हो रहा है।

— एस. आर. हरनोट, हिमाचल पर्यटन, रिट्ज एनेक्सी, शिमला- 171001

'दायित्वबोध' का अद्यतन अंक एक स्थानीय पुस्तक एजेंट के यहां से प्राप्त हुआ। इतिहास दर्शन पर जो आलेख उसमें प्रकाशित हुआ है, वह बहुत विचारोत्तेजक एवं महत्वपूर्ण है। बाकी रचनाएं भी किसी न किसी रूप में प्रासंगिक हैं। इतनी अच्छी पत्रिका के प्रकाशन के लिए हैदराबाद के साहित्यिक मित्रों की ओर से बधाई स्वीकार करें।

— डा. रवि रंजन, प्रवक्ता हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

साझा सरकार का साझा न्यूनतम कार्यक्रम और केन्द्रीय बजट 1996-97

बासी कढ़ी में बघार

विश्वनाथ मिश्र

केन्द्र में सत्तारूढ़ संयुक्त मोर्चा की साझा सरकार के वित्तमंत्री पी चिदम्बरम ने विगत 22 जुलाई '96 को संसद में 1996-97 का केन्द्रीय बजट पेश करते हुए अपने बजट-भाषण के शुरू में ही स्पष्ट किया कि "इस बजट के लिए साझा न्यूनतम कार्यक्रम ने आधार प्रदान करने और एजेण्डा तैयार करने का काम किया है।" इसी के साथ उन्होंने साझा न्यूनतम कार्यक्रम नामधारी दस्तावेज के "आदर्श वाक्य" को दुहराते हुए जोर देकर कहा कि "सरकार उन्हीं आर्थिक नीतियों का अनुसरण करेगी जो सामाजिक न्याय के साथ विकास को बढ़ावा देंगी और आत्म-निर्भरता की ओर ले जायेंगी।" इस स्पष्टोक्ति और दृढ़ोक्ति के बाद उन्होंने यह भी ऐलान किया कि अब संसद के "सदस्यों को इस दस्तावेज के प्रति मेरी प्रतिबद्धता को परखने का अवसर मिलेगा।"

जैसाकि शीर्षक में ही कहा गया है – बासी कढ़ी में बघार – इस नये बजट और इसके लिए "आधार प्रदान करने और एजेण्डा तैयार करने" वाले साझा न्यूनतम कार्यक्रम की अन्तर्वस्तु में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे वास्तव में नया कहा जा सके – सिवाय नयी जुमलेबाजी के। इसे तो बजट पेश होने के तुरन्त बाद ही वित्त सचिव मोण्टेक सिंह आंहलूवालिया ने अपने एक दूरदर्शन-साक्षात्कार में स्पष्ट कर दिया था किं इसमें पूर्व वित्तमंत्री मनमोहन सिंह की कार्य नीति की "दिशा में कोई परिवर्तन नहीं" किया गया है और कि यह "उसी रास्ते की निरन्तरता" है।

फिर भी जब पी. चिदम्बरम जोर देकर कहते हैं कि वह इस बजट की बावत साझा न्यूनतम कार्यक्रम के दस्तावेज् के प्रति "प्रतिबद्ध" है, तो यह जानने की उत्सुकता का पैदा होना लाजिमी ही है कि आखिर इस दस्तावेज और "इससे प्रतिबद्ध" इस बजट में है क्या जिसे पिछली सरकार की "नयी आर्थिक नीतियों" से अलग कहा जा सके।

साझा न्यूनतम कार्यक्रम 'बासी मांल नया वर्क':

साझा न्यूनतम कार्यक्रम के दस्तावेज में कहा गया है कि "सामाजिक न्याय के साथ विकास संयुक्त मोर्चा सरकार का आदर्श वाक्य होगा। विकास का कोई विकल्प नहीं है। यह विकास ही है जो रोजगार और आय का सृजन करता है। आत्म-निर्भरता आजादी के बाद से ही हमारी आस्था का विषय रही है और संयुक्त मोर्चा सरकार ऐसी विकास निर्दिष्ट नीतियां अपनायेंगी जो और अधिक आत्मनिर्भरता की ओर ले जाने वाली हैं। संयुक्त मोर्चा सरकार तीव्रतर आर्थिक विकास के लिए प्रतिबद्ध है। देश के सकल राष्ट्रीय उत्पाद को अगले दस वर्षों में 7% से भी अधिक सालाना दर से बढ़ाने की आवश्यकता है ताकि स्थानिक गरीबी और बेरोजगारी का खात्मा किया जा सके।....प्रत्येक बेरोजगार व्यक्ति को 100 दिनों का रोजगार देने वाला एक कार्यक्रम पंचायती राज संस्थाओं के जरिये लागू किया जायेगा। ..." इसमें और भी वायदे किये गये हैं, मसलनः केन्द्रचालित योजनाओं को राज्य सरकारों को सौंपना; शिक्षा, और सामाजिक सुविधाओं जैसे सफाई, पीने के पानी आदि के बजट में बढ़ोत्तरी तथा प्रत्येक परिवार को सन् 2005 तक आवास सुविधा प्रदान करना आदि, आदि।

अब आइए, जरा निकटता से इन वायदों पर गौर करें। इन्हीं सब वायदों को "सामाजिक न्याय के साथ विकास" के "आदर्श वाक्य" में सूत्रित किया गया है। परन्तु पिछली कांग्रेस सरकार ने लोकसभा चुनाव की घोषणा से ठीक पहले चुनावी-हथकण्डे के तौर पर, फरवरी '96 में अपना अन्तरिम बजट पेश करते हुए, "मानवीय चेहरे के साथ सुधार" का जो नारा दिया था, उससे यह कहा भिन्न है? इस अन्तरिम बजट को पेश करते हुए स्वयं तत्कालीन वित्तमंत्री मनमोहन सिंह ने भी तो सामाजिक क्षेत्र में और अधिक स्रोत संसाधन आवंटित करने का वायदा किया था। इससे साझा न्यूनतम कार्यक्रम का "सामाजिक न्याय" कहां भिन्न है?

और जहां तक "सामाजिक न्याय के साथ विकास" की बात है, तो इससे किसी को इस भ्रम में पड़ने की जरूरत नहीं कि वर्तमान सरकार विकास का कोई नया वैकल्पिक मॉडल अख्तियार करने जा रही है। यह उसी पुराने रास्ते पर चलना है – बल्कि और तेज गति से। इसका खुलासा तो वर्तमान वित्तमंत्री अपने बजट भाषण में ही कर चुके हैं कि इस बजट का एक उद्देश्य "त्वरित आर्थिक विकास के लक्ष्य की दिशा में आर्थिक सुधारों और उदारीकरण के रास्ते पर मजबूती से चलते रहना है।"

अब सवाल उठता है कि यदि वर्तमान साझा सरकार को भी उसी नरसिंह राव-मनमोहन सिंह एण्ड कम्पनी द्वारा बनाये गये, कोष-बैंक से प्रतिबद्ध रास्ते पर चलना है, तो फिर बासी कढ़ी में ताजगी की बघार के तौर पर, "सामाजिक न्याय के साथ विकास" की नयी जुमलेबाजी की आवश्यकता क्यों? दरअसल, आज यह न सिर्फ भारत की चरम संकटग्रस्त बुर्जुआ राजनीति की जरूरत है, बल्कि अन्य सभी विकासशील देशों की, और यहां तक कि साम्राज्यवाद के सात बड़े चौधरियों की भी, राजनीतिक जरूरत है – जो लगभग पिछले दो-एक वर्षों से महसूस की जा रही है। अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो,

शीत-युद्ध की समाप्ति के बाद, कोष बैंक की नुस्खा निर्देशित खुली मुक्त बाजार-नीतियों के जो विप्लवकारी परिणाम, खासतौर से, लातिन अमेरिका और उपसहारा आदि के देशों में देखने को मिले हैं, उससे सबक लेकर साम्राज्यवादी चौधरियों ने भी यह महसूस और स्वीकार करना शुरू कर दिया है कि विकासशील देशों में -- जहां भारी आबादी इन विनाशकारी ''आर्थिक नीतियों'' के खिलाफ सरकारों और इस तरह बाजारों की स्थिरता के लिए भारी संकट पैदा करती है -- ''मानवीय चेहरे'', ''सामाजिक न्याय'' आदि के नाम पर ठंडे पानी के कुछ छींटे मारते देना आवश्यक है।

इसी आवश्यकता के तहत पिछली सरकार ने ''मानवीय चेहरे के साथ सुधार'' की पेशकश की थी। परन्तु तबतक बहुत देर हो चुकी थी, क्योंकि चुनाव सिर पर था, और इसलिए आम जनता ने इसे विश्वसनीय नहीं, बल्कि मात्र एक चुनावी शिगूफा ही समझा। इससे सबक लेकर संयुक्त मोर्चा के घटकों ने सत्तारुढ़ होने से पहले ही एक नये लोकरंजक कार्यक्रम की कवायद शुरू कर दी, जिसे अन्ततः 5 जून 1996 को साझा न्यूनतम कार्यक्रम के दस्तावेज के रूप में जारी कर दिया। चूंकि लोकरंजकता सिर्फ एक दिखावा भर होती है, इसलिए यह साझा न्यूनतम कार्यक्रम और उसके प्रति बजट और उसके पेशकर्ता पी चिदम्बरम की ''प्रतिबद्धता'' भी एक दिखावा ही है। अन्यथा कौन नहीं जानता कि पिछली कांग्रेसी सरकार में वाणिज्य मंत्री रह चुके चिदम्बरम मनमोहन सिंह के पक्के चेले थे -- बल्कि यों कह लें कि उससे बढ़कर थे -- जिसका सबूत यह है कि वह घरेलू उपभोक्ता माल-बाजार को भी विदेशी निवेशकों के लिए खोल देना चाहते थे। यह तो प्रतिभूति घोटाला था जिसकी गर्दिश में फंसकर उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा था। अब आज यदि उनका सितारा फिर चमक उठा है और वर्तमान साझा सरकार के वित्तमंत्री बने हुए हैं तो यह भी कोई अनहोनी बात नहीं है। कारण कि इस साझा सरकार के सभी घटक (और यह ही क्यों इन समेत सभी चुनावी दल भी) ''नयी आर्थिक नीतियों'' से सारतः और बुनियादी तौर पर सहमत हैं। और इसमें भी अधिक उल्लेखनीय बात यह हुई है कि संयुक्त मोर्चा ने ''नयी आर्थिक नीतियों'' के ऊपर साझा न्यूनतम कार्यक्रम की जो विभ्रमकारी मुलम्मासाजी की है, वह पिछली कांग्रेसी सरकार द्वारा चलाचली की बेला में शुरू भर की गयी ''मानवीय चेहरे के साथ सुधार'' की मुलम्मेबाजी से कहीं अधिक दुरुस्त है -- विषरसभरा कनक घट जैसे!

साझा सरकार के सभी घटक (और यह ही क्यों इन समेत सभी चुनावी दल भी) ''नयी आर्थिक नीतियों'' से सारत: और बुनियादी तौर पर सहमत है। और संयुक्त मोर्चा ने ''नयी आर्थिक नीतियों'' के ऊपर साझा न्यूनतम कार्यक्रम की जो विभ्रमकारी मुलम्मासाजी की है, वह पिछली कांग्रेसी सरकार द्वारा चलाचली की बेला में शुरू की गयी ''मानवीय चेहरे के साथ सुधार'' की मुलम्मेबाजी से कही अधिक दुरुस्त है – विषरस भरा कनक घट जैसे!

फिर भी मुलम्मा तो मुलम्मा ही होता है -- थोड़ी सी खरोंच खाते ही उसकी बदरंग असलियत दिखायी देने लगती है। ठीक यही बात साझा न्यूनतम कार्यक्रम से मुलम्मासाजी किये गये इस बजट की भी है। आइए देखें।

बजट 1996-97 की असलियत

वित्तमंत्री पी चिदम्बरम ने अपना प्रस्तावित बजट पेश करते हुए कहा कि ''सामाजिक न्याय के साथ विकास'' के लक्ष्य को पूरा करने के लिए तीन चुनौतियों का सामना करना है : (1) राजकोषीय घाटे को कम करना, 2. अवरचनागत (इन्फ्रास्ट्रक्चर) क्षेत्रों को पुनर्जीवित करना और 3. रोजगार और गरीबी-उन्मूलन कार्यक्रमों को तीव्र गति प्रदान करना। इन्हीं को लेकर वित्तमंत्री ने साझा न्यूनतम कार्यक्रम के प्रति अपनी ''प्रतिबद्धता'' का इजहार अपने बजट-भाषण में किया था, लेकिन इसी के साथ वह अपनी यह कशमकशभरी सफाई देने से भी नहीं चूके कि इसके लिए उन्हें महज दो-तीन हफ्ते का ही समय मिल पाया जबकि कम से कम नब्बे दिन का समय चाहिए था; कि उन्हें पेट्रोलियम और डीजल की कीमतों में भारी बढ़ोत्तरी (जो बाद में कुछ कम कर दी गयी) और किसानों को खादों में सब्सिडी देने के वायदों; और सरकार (खासतौर से उसके ''वाम'' घटकों) के सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों, जैसे जीवन बीमा, सामान्य बीमा निगम आदि के प्रति रुख को देखते हुए, बजट तैयार करने की अपनी स्वतंत्रता की तमाम सीमाओं के मातहत करना पड़ा था। वस्तुतः उनकी ''प्रतिबद्धता'' और सफाई का यह जो विरोधाभास है वह स्वयं संयुक्त मोर्चा सरकार के घटकों और उनके समर्थकों (दक्षिण व ''वाम'' दोनों) का आपसी वर्गीय (बुर्जुआ) विरोधाभास है जो साझा न्यूनतम कार्यक्रम और उससे ''प्रतिबद्ध'' इस बजट के विरोधाभास के रूप में प्रतिबिम्बित है।

वित्तीय क्षेत्र :

जहां तक राजकोषीय घाटे की चुनौती का सामना करने की बात है, तो इससे पहले यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि राजकोषीय घाटा बुनियादी तौर पर राजस्व घाटे की ही अभिव्यक्ति होता है। इसे यदि नियमित न किया जाये तो सरकारें राजस्व और खर्च के बीच के अन्तर को पूरा करने के लिए और कर्ज उधार लेने पर मजबूर हो जाती हैं। इस घाटे को पूरा या कम करने के दो उपलब्ध स्रोत हैं : 1. कर और गैर कर राजस्व में वृद्धि, और 2. सरकारी खर्च में कटौती। चूंकि सरकारी खर्च में सीधे कटौती करना मुमकिन नहीं था -- क्योंकि इससे स्वयं संयुक्त मोर्चा सरकार के मंत्रियों और अफसरशाहों की भृकुटियां तन जातीं -- इसलिए, एक टालू नीति के तौर पर वित्तमंत्री ने ''प्रतिष्ठित'' नेताओं, अर्थशास्त्रियों और प्रशासकों को मिलाकर एक व्यय आयोग गठित करने का प्रस्ताव कर दिया -- जिसे चार माह के भीतर अपनी रिपोर्ट देनी है -- जिस पर आगे राष्ट्रव्यापी बहस चलायी जायेगी। इसी तरह वित्तमंत्री ने खादों पर सब्सिडी दिये जाने के मसले को एक दूसरी टालू नीति के तहत एक विचार-विमर्श प्रपत्र जारी करने का वायदा कर दिया, ताकि आगे उस पर भी बहस चलायी जा सके। इस तरह, सरकारी खर्च में कटौती के मुद्दे को अन्ततः स्थगित कर दिया

गया।

अब जहां तक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों की वसूली के जरिये राजस्व वृद्धि और तदनुसार राजकोषीय घाटा पूरा करने का सवाल है, तो इस मामले में बजट में यह आशा की गयी है कि वर्तमान कर-दरों पर 16% तक की राजस्व वृद्धि की जा सकेगी। परन्तु वित्तमंत्री ने जिन कर उपायों की घोषणा की है, उनकी बदौलत यह वृद्धि मात्र 2% या सकल घरेलू उत्पाद का 0.2% से कम ही हो सकेगी। और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि वित्तमंत्री ने इस मामूली राजस्व वृद्धि के लिए भी जिन कर-नीतियों की घोषणा की है, वे "सामाजिक न्याय के साथ विकास" की उनकी घोषित "प्रतिबद्धता" की कलई पूरी तरह से इस रूप में खोल देती हैं कि ये नीतियां प्रधानतः कारपोरेट क्षेत्र के निवेशकर्ताओं और अन्य मुनाफाखोर पूंजीपतियों को ही बेतहाशा लाभ पहुंचाने वाली हैं। मिसाल के तौर पर, कारपोरेशन टैक्सों पर सरचार्ज को 15% से घटाकर 7.5% कर दिया गया है -- बावजूद इस खुली सच्चाई के कि हाल के वर्षों में इस क्षेत्र में कर-चुकता करने के बाद भी बेशुमार मुनाफा हुआ है। अभी ही, एक अनुमान के अनुसार, इस राहत की बदौलत, हिन्दुस्तान लीवर को 11 करोड़ रु. तथा बजाज आटो को 10 करोड़ रु. का अतिरिक्त लाभ मिल चुका है। इसके अतिरिक्त घरेलू कम्पनियों के दीर्घकालिक पूंजीगत लाभों पर चले आ रहे 30% टैक्स को घटा कर 20% कर दिया गया है, जो स्वयं वित्तमंत्री के अनुसार "समतल गतिविधि क्षेत्र" प्रदान करने के लिए किया गया है। बेशक वित्तमंत्री ने कोई टैक्स न देने वाली मुनाफाखोर कम्पनियों पर, उनके बही खाते में दर्ज मुनाफे के 30% पर "न्यूनतम एवजी टैक्स" (एम ए टी) का प्रावधान किया है, जो व्यवहार में उनके दर्ज मुनाफे का मात्र 12% ही है और इसका भी अभी औद्योगिक क्षेत्र से विरोध ही किया जा रहा है। अतः कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इन्हें और भी राहत दे दी जाये। इसके साथ ही, सीमा शुल्क, कस्टम ड्यूटी आदि में दी गयी छूटें भी इन्हीं के हित में हैं। काला बाजारियों पर भी चुप्पी साधकर उनका भला ही किया गया है -- जो सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 35% से अधिक मूल्य के बराबर कालेधन का मकड़जाल पूरे देश में फैलाये हुए हैं।

अलबत्ता वित्तमंत्री ने आयकर के मामले में कड़ी मुद्रा अख्तियार की है, आयकर की सीमा बढ़ाने से इंकार करके। इसके लिए उन्होंने तर्क रखा कि देश में कुल 110 लाख ही तो करदाता हैं और उनमें से भी "20 या 30 लाख" करदाताओं को "इस दायरे से बाहर जाने देना कोई भी वित्तमंत्री बर्दाश्त नहीं कर सकता।" यहां स्मरण रहे कि इन करदाताओं में भी भारी संख्या 40,000 रु. से 60,000 रु. तक की वार्षिक आय वाले मध्यम वर्गीय नौकरीपेशा लोगों की है। बेशक इन पर रहम दिखाते हुए वित्तमंत्री ने इन पर लागू 20% आयकर दर को घटाकर 15% कर दिया है -- "सामाजिक न्याय" के नाम पर! परन्तु इसकी भी असलियत यह है कि वित्तमंत्री को बखूबी मालूम है कि इस माह (यानी सितम्बर'96) के अंत तक वेतन आयोग की रिपोर्ट आ जायेगी -- जो पीछे की तारीख से लागू होगी -- जिसका मतलब यह होगा कि यह मामूली राहत भी अन्ततः राजकीय कोष के ही पेट में वापस चली जायेगी।

अवरचना :

अब "अवरचनागत (इन्फ्रास्ट्रक्चरल) क्षेत्रों को पुनर्जीवित करने" की बात पर आते हैं। साझा न्यूनतम कार्यक्रम में "7% से अधिक तीव्रतर आर्थिक विकास" के प्रति अपनी "प्रतिबद्धता" का इजहार करते हुए वित्तमंत्री ने अपने बजट-भाषण में स्पष्ट किया कि 'हम 7% का विकास तबतक बनाये नही रख सकते जबतक कि हम इन अवरचनागत क्षेत्रों को पुनर्जीवित नहीं कर लेते।" यहां साझा न्यूनतम कार्यक्रम में किये गये "7% से अधिक तीव्रतर आर्थिक विकास" के वायदे से अन्तर गौरतलब है। बहरहाल, हम "अवरचनागत क्षेत्रों को पुनर्जीवित करने" की ही बात पर विचार करें। इसके लिए साझा न्यूनतम कार्यक्रम में अगले पांच वर्षों में कम से कम 7 लाख करोड़ रुपये अवरचनागत क्षेत्रों में निवेश करने का वायदा किया गया है। परन्तु उसी में यह भी निहित है कि चूंकि इतना विशाल संसाधन राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उपलब्ध नहीं है, इसलिए व्यापक पैमाने पर विदेशी निवेश आमंत्रित किये जाने की आवश्यकता है। इसके लिए पहले से ही मौजूद वित्तीय संस्थाओं के अलावा और संस्थाओं, अवरचना विकास वित्त निगम (आई डी एफ सी) और भारतीय राष्ट्रीय राजमार्ग प्राधिकरण (एन एच ए आइ) के गठन का प्रावधान किया गया है, तथा विदेशी -- बहुराष्ट्रीय निगमों के निवेश को आकर्षित करने के लिए तरह-तरह की रियायतें और छूटें देने की घोषणा की गयी है। लेकिन पिछले पांच वर्षों का अनुभव बताता है कि बहुराष्ट्रीय निगम आदि विदेशी निवेशकर्ता एकमात्र भारतीय श्रम और उपभोक्ताओं का अधिकाधिक शोषण कर अधिकाधिक मुनाफा कमाने में ही दिलचस्पी रखते हैं। इसके अतिरिक्त इनकी शर्तें इतनी कड़ी होती हैं कि इनके निवेश व्यापारिक ऋणों से भी कहीं अधिक मंहगे पड़ते हैं। वास्तव में इसकी अन्तर्निहित सच्चाई यही है कि "सामाजिक न्याय के साथ विकास" का मुखौटा लगाकर संयुक्त मोर्चा सरकार भी, पिछली सरकार की भांति, कोष बैंक द्वारा निर्देशित "सुधार कार्यक्रमों" को ही निरन्तरता को बनाये रखना या यों कहें कि उसे और तीव्र गति से चलाना चाहती है। इसीलिए आर्थिक विकास के लिए "अवरचना को पुनर्जीवित करने" की योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के औद्योगिक उद्यमों को बिल्कुल नहीं शामिल किया गया है, जबकि "उदारीकरण" और "भूमण्डलीकरण" के पांच वर्षों के बाद भी सार्वजनिक क्षेत्र के जो उद्यम कार्यरत हैं वे निजी भारतीय और विदेशी निवेशकर्ताओं के मुकाबले कहीं काफी कम कीमत पर अपने मालों और सेवाओं की आपूर्ति करते हैं। लेकिन सरकार तो अपने वर्गीय चरित्र के अनुरूप निजी क्षेत्र को ही लाभान्वित करने पर तुली हुई है। यही उसका "सामाजिक न्याय" है।

रोजगार और गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम :

साझा न्यूनतम कार्यक्रम के अन्तर्गत खासतौर से देहाती क्षेत्रों में रोजगार के अवसर बढ़ाने और गरीबी उन्मूलन सम्बन्धी कार्यक्रमों का खूब ढिंढोरा पीटा गया है। वित्तमंत्री ने भी अपने बजट भाषण में इस पर खूब जोर दिया है। लेकिन आइए देखें कि इसकी असलियत क्या है। रोजगार पैदा करने और गरीबी उन्मूलन सम्बन्धी कई कार्यक्रम पहले ही से चल रहे हैं -- जैसे समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आइ आर डी पी) जवाहर रोजगार योजना (जरोयो), रोजगार गारण्टी योजना, दस लाख कुंआ खोदना, आदि। परन्तु जहां पिछली बजट के अन्तर्गत आइ आर डी पी द्वारा 640 करोड़ रुपये खर्च करके 19.5 लाख परिवारों को लाभ पहुंचाया गया था, वहीं इस वर्तमान बजट में सिर्फ 16.4 लाख परिवारों की मदद करने का लक्ष्य रखा गया है, जिसके लिए बेशक 655 करोड़ रुपये का प्रावधान है -- जो पिछली रकम से प्रकटतः कुछ अधिक है, परन्तु वास्तविक अर्थों में उससे कम ही है। शेष (ऊपर उल्लिखित) योजनाओं

के मद में जहां पिछले संशोधित अनुमान के मुताबिक कुल 5,473 करोड़ 88 लाख रु. रखे गये थे, वहीं इस बजट में उससे कम, यानी 5,460 करोड़ रु. ही रखे गये हैं। इसी तरह ग्रामीण रोजगार के मद में जहां पिछली बजट में 4771 करोड़ रु. रखे गये थे, वहीं इस बजट में 20% की कटौती कर, महज 3835 करोड़ रु. ही रखे गये है। वृद्धाश्रम, अनाथ महिलाओं के लिए कार्यक्रम आदि में भी बस मामूली पांच-पांच, दस-दस करोड़ की भीख भर दे दी गयी है। स्वास्थ्य सम्बन्धी आवंटन भी पिछली सरकार द्वारा रखी गयी राशि से नीचे खिसकर 23 करोड़ रु. कम हो गया है। कुल मिलाकर, रोजगार और गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के मदों में या तो लगभग वैसा ही आवंटन किया गया है जैसा पिछली सरकार ने किया था या और भी कम कर दिया गया है।

बेशक शिक्षा के मद में पिछली बजट के अन्तर्गत आवंटित राशि (1,825 करोड़ रु.) के मुकाबले उल्लेखनीय रूप से अधिक (3,388 करोड़ रु.) रखी गयी है। लेकिन इसका ज्यादातर हिस्सा प्राथमिक स्तर के स्कूली बच्चों के लिए दोपहर की भोजन योजना और प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम के लिए ही रखा गया है। यहां यह भी स्पष्ट कर देना प्रासंगिक है कि प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम के लिए धन मुख्यतः विश्वबैंक व अन्य बाहरी स्रोतों से आ रहा है, जिसके साथ यह शर्त भी जुड़ी हुई है कि इसका ज्यादा से ज्यादा 20% ही स्कूली इमारतें आदि स्थायी निर्माण कार्यों या शिक्षकों के वेतन आदि में लगाया जा सकता है, जबकि शेष भारी हिस्सा ''पाठ्यक्रमों के पुनर्गठन'' (बैंक-निर्देशित ''शिक्षा सुधार कार्यक्रम''!) पर खर्च किया जाना है।

लघु उद्योगों के माध्यम से स्वरोजगार देने के मामले में इस बजट का ''सामाजिक न्याय'' यह है कि जहां इस मद में पिछली बजट में कुल 961 करोड़ रुपये रखे गये थे, वहां इस बजट में सिर्फ 953 करोड़ रुपये रखे गये हैं। यदि उपर्युक्त तथाकथित रोजगारपरक और गरीबी उन्मूलन सम्बन्धी कार्यक्रमों पर आवंटित सारी राशियों को एकसाथ जोड़ दिया जोय तो कुल योग वर्तमान बजट का मात्र 0.03% ही होगा।

वर्तमान साझा सरकार कृषि क्षेत्र के विकास को लेकर बेहद चिन्तित है। परन्तु उसकी चिन्ता का आलम यह है कि जहां पिछली बजट में कृषि व अन्य सहायक गतिविधियों के मद में कुल 3,021 करोड़ 78 लाख रुपये रखे गये थे, उसे वर्तमान बजट में घटाकर 2,830 करोड़ 53 लाख रु. कर दिया गया है। बेशक नाबार्ड (नेशनल बैंक आफ एग्रीकल्चर ऐण्ड रूरल डेवलपमेण्ट) को बजट से 100 करोड़ रु. तथा भारतीय रिजर्व बैंक के मार्फत 400 करोड़ रुपये प्रदान कर कृषि क्षेत्र में ऋण सुविधाओं के विस्तार का वायदा किया गया है, परन्तु इन सुविधाओं का लाभ ग्रामीण क्षेत्र की भारी लघु और सीमान्त किसान आबादी क्या उठा पायेगी -- इसको बताने की आवश्यकता नहीं। निश्चय ही यह भी प्रधानतः धनी किसानों को दिया जाने वाला एक ''घूस'' है -- ''सामाजिक न्याय के नाम पर''।

उपसंहार :

उपर्युक्त बजट विश्लेषण से यह बात पूरी तरह से साफ हो जाती है कि वर्तमान बजट पिछली सरकार की नीतियों की निरन्तरता को ही दिखाती है। यदि ''साझा न्यूनतम कार्यक्रम'' के ''सामाजिक न्याय के साथ विकास'' की ''प्रतिबद्धता'' प्रकट रूप में कुछ भिन्नता दर्शाती भी है, तो यह मात्र एक छलावा भर है -- जनता को गुमराह करने का एक नया लोकरंजक छलावा! यह इस विडम्बनापूर्ण सच्चाई से भी उजागर हो जाता है कि साझा न्यूनतम कार्यक्रम द्वारा खासतौर से जिन क्षेत्रों में ''सामाजिक न्याय के साथ विकास'' की ''प्रतिबद्धता'' का दावा किया गया है, उनमें से अधिकांश तो -- मसलन, शिक्षा, स्वास्थ्य, पीने का पानी, आवास, ऊर्जा, सड़क, सिंचाई आदि -- राज्य के विषय हैं, जिसके लिए केन्द्र सरकार सहायता देती है -- लेकिन इस बजट में ऐसी सहायता बढ़ाने के बजाय, पिछली बजट के मुकाबले, घटा ही दी गयी है। उल्लेखनीय है कि जहां पिछली बजट में केन्द्र द्वारा राज्यों को दी जाने वाली सहायता सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 1.83% थी, उसे कम कर इस बजट में 1.76% कर दिया गया है। योजना और गैर योजना खर्चों के लिए केन्द्र द्वारा दिये जाने वाले ऋणों और अनुदानों में तो और कटौती कर दी गयी है : 1995-96 के बजट में 3.4% से 1996-97 के इस वर्तमान बजट में 3.2%. कुल कर राजस्व में राज्यों का हिस्सा भी नाममात्र की बढ़ोत्तरी के साथ (2.7% से 2.8%) लगभग अपरिवर्तित ही है। अतः साझा न्यूनतम कार्यक्रम के वायदे भी वैसे ही कोरे आश्वासन भर रह जाने हैं, जैसे पिछली सरकार के वायदे। ●

जन्मदिवस (26 अक्टूबर) के अवसर पर

'' जिस दिन हमारी आत्मा इतनी निर्बल हो जाए, कि अपने प्यारे आदर्श से डिग जाएं, जानबूझकर असत्य के पक्षपाती बनने की बेशर्मी करें और उदारता, स्वतन्त्रता और निष्पक्षता को छोड़ देने की भीरुता दिखाएं, वह दिन हमारे जीवन का सबसे अभागा दिन होगा।''

— गणेशशंकर विद्यार्थी

जन्मदिवस (29 सितम्बर) के अवसर पर

'' वही आदमी वास्तव में मनुष्य कहा जा सकता है, जिसके सामने कोई ऊंचा आदर्श हो, जीवन का कोई ध्येय हो। तब उसका जीवन एकांगी नहीं रहता। तब वह पेट के लिए या मेदे के लिए या शरीर के किसी अंग विशेष के लिए नहीं जीता। उसके जीवन में एक पूर्णता आने लगती है। और इसी से मनुष्य और अन्य जीवों के भेद का पता चलता है। इसी में मनुष्य की शक्ति निहित है। एक ऐसा आदर्श है जो न केवल व्यक्तियों को, बल्कि राष्ट्रों तक को सच्चे वीरों में परिणत कर सकता है। वह है कम्युनिज्म का, जनता के सुख के लिए संघर्षरत रहने का आदर्श।''

— निकोलाई आस्त्रोव्स्की

पूंजीपति घरानों द्वारा लाखों के साहित्यिक पुरस्कार बांटने की राजनीति के खिलाफ ज.ने.वि. के छात्रों की सार्थक पहल

कवि केदारनाथ सिंह ने दयावती मोदी शिखर सम्मान अस्वीकार करने की छात्रों की अपील ठुकराई!

हम साहित्यिक अवसरवाद और संस्कृति के बाजारीकरण के खिलाफ इस ईमानदार युवा पहल के साथ है!

हिन्दी के तथाकथित प्रगतिशील कवि केदारनाथ सिंह को भारत के शीर्षस्थ इजारेदार पूंजीपति घरानों में से एक द्वारा स्थापित 'दयावती मोदी कवि शिखर सम्मान' के नाम पर ढाई लाख रुपये की मोटी गठरी मिली।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के कुछ प्रबुद्ध छात्रों ने कविजी से यह अपील की कि वे इस पुरस्कार को ठुकराकर पूंजीपतियों द्वारा संस्कृति के निर्माताओं को खरीदने की प्रवृत्ति का विरोध करें। पर कविजी ने यह अपील ही ठुकरा दी। न जाने हिन्दी विभाग के प्रोफेसर पद पर आसीन, महीने में वेतन की मोटी रकम व रायल्टी उठाने वाले "प्रगतिशील" कविजी को ढाई लाख रुपये की थैली ने अधिक खींचा या अपने "पक्षधर कवित्व" को सेठों से प्राप्त होने वाली मान्यता ने! जो भी हो, आज प्रगतिशीलता के नाम पर साहित्य रचने वाले सत्ताधर्मियों पर, पुरस्कारों की राजनीति पर चर्चा बहुत जरूरी है।

वैसे इस मामले में कवि केदाननाथ सिंह अकेले नहीं हैं। जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन और प्रगतिशील सांस्कृतिक आन्दोलन के गतिरोध और बिखराव के वर्तमान दौर में मानो हर तरह के सामाजिक-नैतिक मानदण्ड क्षरित हो चुके हैं। अभी पिछले ही दिनों बथानीटोला नरसंहार (जिसमें रणवीर सेना नामक फासिस्ट गिरोह के रूप में संगठित भूस्वामियों के गुण्डों ने बिहार में भूमिहीन परिवारों के 20 महिलाओं और बच्चों की बर्बरतापूर्वक हत्या कर दी) के ठीक बाद प्रेमचंद की पत्रिका 'हंस' के नाम को कलंकित करने वाले राजेन्द्र यादव ने सभी अनुरोधों को ठुकराते हुए पटना जाकर बिहार सरकार का लखटकिया पुरस्कार ग्रहण किया। बाद में 'हंस' में एक सम्पादकीय लिखकर उन्होंने अपनी इस हरकत के पक्ष में भांति-भांति के तर्क गढ़े हैं और सफाइयां दी हैं। बड़ी मासूमियत से प्रश्न उठाते हुए उन्होंने यह लिखा है कि 'हंस' की जीवनरक्षा के लिए शायद वे उसी तरह कमजोर पड़े हैं जैसे द्रोणाचार्य या महाराणा प्रताप। क्या चालाक तर्क है! दूसरी ओर उन्होंने यह भी लिखा है कि उनसे पुरस्कार ठुकराने का अनुरोध देर से किया गया और उन्हें निर्णय लेने के लिए पर्याप्त समय नहीं मिला। यह भी एक बेशर्म तर्क है। आपका खुद का विवेक कहां चला गया था। उनका तीसरा तर्क है कि बिहार में ऐसा नरसंहार कोई नया नहीं है (यानी हमें ऐसे नरसंहारों का आदी हो जाना चाहिए और ऐसी सरकारों से पुरस्कृत होते रहना चाहिए) और जनसंस्कृति मंच की राजनीतिक प्रेरक भा.क.पा. (मा.ले.) (विनोद मिश्र ग्रुप) तो कभी उसी लालू की पार्टी से चुनावी तालमेल बैठाती रही थी। यह तर्क भी अजीब है। यह सही है कि विनोद मिश्र ग्रुप आज क्रान्ति का मार्ग त्यागकर सत्ता-राजनीति के दलदल में पूरी तरह धंस चुका है। पर इस आधार पर कोई जनद्रोही ही रणवीर सेना की बर्बरता, लालू सरकार की निरंकुशता और भूमिहीन ग्रामीणों की हत्या के प्रति खुद को तटस्थ घोषित कर सकता है।

शब्दों की जलेबी पारते हुए राजेन्द्र यादव ने यह अप्रासंगिक प्रश्न उठाया है कि जनसंघर्षों के इस दौर में क्या कलाकर्म स्थगित कर दिया जाये? यानी कलाकर्म और सत्ता से पुरस्कृत होना अपरिहार्यतः जुड़े हैं उनकी निगाह में! अन्त में अपनी विरोधी मुद्रा बरकरार रखने के लिए एक बार फिर उन्होंने बूढ़े साहित्यिक युवा तुर्क की भाषा में पुरस्कारों को कोसा है पर साथ ही प्रकारान्तर से यह भी कहा है कि जबतक पुरस्कार पूरी तरह बन्द नहीं हो जाते तबतक मिलने पर यदि ले ही लिया जाये तो हर्ज ही क्या है!

यह सांस्कृतिक आन्दोलन की वर्तमान दुरवस्था का ही सूचक है कि ये बेशर्म तर्क भी कुछ लोगों के गले के नीचे उतर जा रहे हैं। सचमुच साहित्यिक अवसरवाद का घटाटोप भयंकर है।

जहां तक केदारनाथ सिंह का प्रश्न है, हम जानते हैं, पुरस्कार के नाम पर मोदी घराने से ढाई लाख रुपये पाने के मुद्दे पर वे तमाम सवालों को अपनी चुप्पी से टाल जायेंगे। चतुर लोग प्रायः ऐसा ही करते हैं और विवादों के शान्त होने और मुद्दे के भुला दिये जाने का इंतजार करते हैं।

पर वास्तव में यह मुद्दा अब इतना गम्भीर हो चुका है कि कम से कम ईमानदार जनपक्षधर संस्कृतिकर्मियों द्वारा इसे भुला पाना मुश्किल होगा। पूंजीवादी मुनाफाखोर संस्कृति का व्यापार तो काफी पहले से ही करते रहे हैं। अब खुले बाजारीकरण के इस दौर में कला को पूरी तरह पूंजी के हितों से जोड़ देने की साजिश की जा

रही है। एक ओर जहां प्रगतिशीलता का मुखौटा लगाने वाले और यथास्थितिवाद पर छद्म जनपक्षधरता का आवरण चढ़ाने वाले रचनाकारों-कलाकारों को पुरस्कृत किया जा रहा है तथा साथ ही, चांदी के सिक्कों, तमगों-पुरस्कारों से कुछ ईमानदार पर मध्यवर्गीय कमजोरियों से ग्रस्त संस्कृतिकर्मियों-साहित्यकारों को खरीदा और पथभ्रष्ट किया जा रहा है, वहीं दूसरी ओर सत्ताधर्मी बनने से मुंह मोड़ने वालों की स्थिति खुले तौर पर बौद्धिक उजरती मज़दूरों की होती जा रही और उन्हें तरह-तरह से दमन-उत्पीड़न का त्रास भी झेलना पड़ रहा है।

पिछले पन्द्रह वर्षों के भीतर केन्द्र और राज्य सरकारों की अकादमियों और संस्कृति विभागों के लखटकिया पुरस्कारों की संख्या बढ़कर पचास से भी अधिक हो चुकी है। निराला, प्रेमचन्द, मुक्तिबोध आदि के नाम पर दर्जनों पीठ स्थापित हो चुके हैं। साथ ही, उदारीकरण-निजीकरण के दौर में, अमेरिका और यूरोप की ही तरह साहित्यिक व कला-पुरस्कारों की राजनीति में भारत के बड़े पूंजीपति घराने भी एक के बाद एक तेजी से उतरते जा रहे हैं। यह सिलसिला बिड़ला ने शुरू किया। मजदूरों को निचोड़कर कमायी गयी अकूत मुनाफे की राशि का एक हिस्सा पहले वह मन्दिरों-धर्मशालाओं के निर्माण पर खर्च करता था और धर्मभीरु जनता के एक बड़े हिस्से को दिग्भ्रमित करता था, उनकी वर्ग चेतना को कुन्द करने के साथ ही काले धन को सफेद करता था और साथ ही धर्म से भी व्यापार किया करता था। बाद में उसने कला-साहित्य-पत्रकारिता आदि के लिए पुरस्कार देने और कला-साहित्य आदि के प्रतिष्ठान खोलने की राजनीति भी शुरू कर दी। इससे एक ओर कला को भी खुले रूप में उपभोक्ता सामग्री बनाने का काम किया, दूसरी ओर संस्कृतिकर्मियों को सत्ताधर्मी बनाने और सुसंस्कृत मध्यवर्ग के एक बड़े हिस्से को दिग्भ्रमित करने में सफलता हासिल की। नई आर्थिक नीति के दौर में यह काम नये पूंजीपतियों ने और अधिक भोंड़े ढंग से करना शुरू किया। प्रख्यात मजदूर नेता शंकर गुहा नियोगी की हत्या के संदिग्ध षड्यंत्रकारी केडिया ग्रुप ने साहित्यिक पुरस्कार देने की घोषणा करके एक नई शुरुआत की। इसी क्रम में फिर मोदी घराने ने भी पुरस्कार देने की शुरुआत की।

सोचने की बात यह है कि करोड़ों मेहनतकशों का खून जोंक की तरह निचोड़ने

संपादक महोदय,

हिंदी में पुरस्कारों की राजनीति पर बहस चल रही है। हिंदी के प्रगतिशील कवि केदारनाथ सिंह को अभी दयावती मोदी सम्मान मिला। इस सम्मान का नाम तक शालीनता की सारी हदों के पार है। जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के छात्रों ने उन्हें यह पत्र देकर उनसे पुरस्कार को लौटा देने और इस प्रवृत्ति के विरोध में आवाज उठाने की अपील की, लेकिन वे इससे सहमत न हुए।

हम यह पत्र हस्ताक्षरों सहित आपकी पत्रिका में प्रकाशित करने के लिए भेज रहे है, ताकि व्यापक हिंदी जगत में इस पर बहस संचालित हो सके। इसके साथ हम यह भी अपील करते है कि अन्य साहित्यकार और बुद्धिजीवी इस संबंध में ठोस पहल करें।

इस पत्र को आप हस्ताक्षरों सहित भी छाप सकते है और हस्ताक्षरों की कुल संख्या का भी केवल उल्लेख कर सकते है। हस्ताक्षरकर्ता जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के विभिन्न अनुशासनों के छात्र है।

साहित्यिक पुरस्कारों की राजनीति

'दयावती मोदी कवि शिखर सम्मान' की घोषणा के साथ ही विवादों की एक श्रृंखला चल पड़ी है। मोदी व्यापारिक घराने द्वारा दिया जाने वाला ढाई लाख रुपये का यह पुरस्कार हिन्दी साहित्य के क्षेत्र की एक प्रमुख हस्ती को दिया जाता है। यह अलग बात है कि जिस महिला के नाम पर यह नामित है, उनकी साहित्यिक उपलब्धियों के बारे में शायद ही किसी को मालूम हो। इस प्रथा की शुरुआत बिड़ला ने की थी जिसने अपने जबर्दस्त मुनाफे में से कुछ कौड़ियां मंदिर बनवाने और अकादमियों को संरक्षण देने के लिए दान करने का निर्णय लिया था। लेकिन उसने भी इतनी शालीनता बरती कि कला-संस्कृति पर बाजार की कुरूप छाया को परदे में रखा। लेकिन आज यह फैशन से बाहर हो चुका है। केडिया व्यापारिक घराने (छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा के शंकर गुहा नियोगी की हत्या का मुख्य संदिग्ध षड्यंत्रकारी) ने एक और साहित्यिक सम्मान की स्थापना करके अश्लीलता और उद्दण्डता का नया इतिहास रचा है। वाणिज्य ने संस्कृति को हड़प ही नहीं लिया है, बल्कि उसे सड़कों पर बेच रहा है। मोदी सम्मान इसी प्रवृत्ति की बेशर्म कड़ी है।

पुरस्कारों की इस राजनीति की शुरुआत कतई मासूमियत से नहीं हुई है। इन पुरस्कारों को स्वीकार करके बुद्धिजीवियों ने जाने-अनजाने शासक वर्गों और व्यापारिक घरानों के हितों को वैधता प्रदान करने का काम किया है। नई आर्थिक नीति, निर्बाध व्यवसायीकरण और आत्मविमुग्ध उपभोक्तावाद के इस दौर में, ऐसे पुरस्कार विज्ञापन के लिए कला के इस्तेमाल को उजागर करते है और बुर्जुआ वर्ग की नंगी लम्पटई का प्रतीक है। आज के समय का तकाजा है कि प्रगतिशील और जनपक्षधर प्रतिबद्धता रखने वाले लोग प्रतिरोध का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करें।

यह विडम्बना है कि मोदी घराने ने इस वर्ष 'दयावती मोदी कवि शिखर सम्मान' हमारे विश्वविद्यालय के एक शिक्षक, प्रोफेसर केदारनाथ सिंह को देने का निर्णय किया है। वे एक सुप्रसिद्ध कवि है जिनकी प्रगतिशीलता पर कोई संदेह नहीं कर सकता। केडिया और मोदी द्वारा सारी सीमाएं तोड़ डालने के काफी पहले से ही प्रो. सिंह स्वयं अपने छात्रों से साहित्य पर बाजार शक्तियों के घातक प्रभावों की आशंकापूर्ण चर्चा करते रहे है। हमें पूरा विश्वास है कि वे इस पुरस्कार को ठुकरा कर अपनी प्रतिबद्धताओं को पुष्ट करेंगे और विचारधारात्मक स्वतंत्रता की हमारी लड़ाई में एक नया प्रतिमान स्थापित करेंगे।

— ज.ने.वि. के विभिन्न विभागों के 188 छात्र-छात्राओं के हस्ताक्षर से जारी

वाले, छंटनी और तालाबंदी के द्वारा उन्हें भूखों मरने के लिए विवश करने वाले और उनके जुलूसों-प्रदर्शनों पर गोलियां चलवाने वाले पूंजीपति और उनके हितों की सेवा करने के लिए अपने कानूनों, आर्थिक नीतियों और जेल-पुलिस-फौज के साथ सन्नद्ध यह राज्यसत्ता इन कलाकारों-साहित्यकारों से इतनी प्रसन्न क्यों है कि उन्हें पुरस्कृत कर रही है? क्या ये पूंजीपति और इस राज्यसत्ता के कर्ताधर्ता मूर्ख या मासूम हैं? वे इन साहित्यकारों के ''जनपक्षधर, प्रगतिशील'' रचनाकर्म से खुश क्यों हो गये हैं? क्या वे इन्हें इसलिए पुरस्कृत कर रहे हैं कि उनके ऊपर जनता का दबाव है? ऐसा कुछ भी नहीं है।

पुरस्कारों की राजनीति पूरी तरह शासक वर्गों और उनकी राज्यसत्ता की व्यापक सांस्कृतिक रणनीति का एक हिस्सा है। भूमण्डलीय बाजार-संस्कृति के इस दौर में कला-साहित्य का भी एक राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय बाजार है। संस्कृति के व्यापार का भी एक व्यापक तंत्र है, जिसके राजनीतिक सूत्रधारों के अतिरिक्त कुछ सांस्कृतिक सूत्रधार भी हैं। पुरस्कारों के द्वारा, कला-साहित्य के क्षेत्र में अपना मोर्चा खोलने के लिए विश्वसनीय लोग जुटाना, विशेषकर प्रगतिशील होने का भ्रम पैदा करने वाले लोगों को इस मोर्चे पर भरती करना, संस्कृतिकर्मियों की मध्यमवर्गीय महत्वाकांक्षाओं का लाभ उठाकर उन्हें सत्ताधर्मी बनाना और जनता के क्रान्तिकारी संघर्ष के बौद्धिक-सांस्कृतिक वैचारिक मोर्चे को कमजोर और विश्रृंखलित करना पूंजीवादी व्यवस्था की एक बुनियादी जरूरत है। पूंजीवाद के खुले सांस्कृतिक प्रचारक आज उतने उपयोगी नहीं रह गये हैं, जितने कि प्रगतिशील मुखौटा लगाये हुए लोग जो सांस्कृतिक 'ट्रोजन हॉर्स' का काम करते हैं। ये उन चतुर पालतू हाथियों का काम करते हैं जो जंगली हाथियों के झुण्ड में घुसकर उनमें से कुछ को अलग उस ओर बहका ले जाते हैं जहां उन्हें फंसाने के लिए गड्ढे या फंदे बने होते हैं। पूंजीपतियों और सत्ता के प्रतिष्ठानों से पुरस्कृत होने वाले कवि-लेखक वास्तव में पूंजीवादी लूट और सत्ता के दमनतंत्र की हर काली कारगुजारी की वैधता को स्वीकार करने का काम करते हैं। पूंजीपतियों द्वारा दिये जाने वाले पुरस्कार खून सने हाथों से फेंका जाने वाला घी चुपड़ी रोटी का टुकड़ा है, उसे लपकने वाले लोगों के असली चेहरे की शिनाख्त जरूरी है।

पिछले दिनों दिल्ली सरकार ने काफी समय पहले घोषित पुरस्कार लेने के लिए प्रतिष्ठित लेखिका कृष्णा सोबती को जब आमंत्रण भेजा तो उन्होंने पुरस्कार अस्वीकार करते हुए अपने खुले पत्र में यह लिखा था कि *''क्या आपने साहित्यकारों को भंडुवा और मीरासी समझ रखा है, जो जब भी आप चाहेंगे, आपके दरवाजे कोर्निश बजाते चले आयेंगे?''*

मगर सच तो यह है कि ऐसे भंडुवा और मीरासी बनने के लिए आज अधिकांश साहित्यकार तैयार बैठे हैं। इनमें से अधिकांश प्रेमचन्द, निराला और मुक्तिबोध का नाम लेते हैं और कोई इनसे मुक्तिबोध की भाषा में नहीं पूछता कि ***'पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?'*** खुद को मुक्तिबोध की पीढ़ी का घोषित करने वाले कई स्वनामधन्य बूढ़े कवि आज कई राज्यों और केन्द्र की विभिन्न अकादमियों द्वारा लखटकिया पुरस्कारों से पुरस्कृत होकर अपना बुढ़ापा संवार रहे हैं। वे संस्कृतिकर्मियों की नई पीढ़ी के सामने कौन सा आदर्श प्रस्तुत कर रहे हैं? आलोचना जगत के चौधरियों ने उन्हें बुद्ध प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। उनकी करनी पर तो दूर, उनकी रचनाओं तक पर कोई प्रश्न उठाना महापाप है। सिर्फ अभ्यर्थना जारी है। उनकी हर सनक पर हिन्दी साहित्य की दुनिया जैसे न्यौछावर हुई जा रही है। उन पर केन्द्रित विशेषांकों की और जगह-जगह उनके साक्षात्कारों और उनके बारे में संस्मरणों की बाढ़ सी आ रही है। मुक्तिबोध की कतार में नहीं, बल्कि उनके समान्तर उन्हें स्थापित किया जा रहा है जो अंधेरे में रायल्टी और पुरस्कारों की गड्डियां गिनते-गिनते हांफ रहे हैं जबकि मुक्तिबोध अंधेरे में कठिन आत्मसंघर्ष कर रहे थे। ऐसे लोग प्रगतिशीलता के प्रतिमान घोषित किये जा रहे हैं। ऐसे ही समय में कभी के घोर मार्क्सवाद विरोधी, विजयदेव नारायण साही के लघु मानववाद के समर्थक रह चुके और आज भी कविताओं में प्रकृतवाद और रूपवाद के पुरोधा केदारनाथ सिंह को भी नामवर सिंह जैसों ने प्रगतिशील और वामपंथी का सर्टिफिकेट दे दिया है। दयावती मोदी शिखर सम्मान भला ऐसे प्रगतिशील को नहीं तो और किसे मिलेगा? यह समय ही ऐसा है। जरूरत है इस समय को पहचानने की, आज के सांस्कृतिक संकट के सभी आयामों को पहचानने की और प्रगतिशीलता के शिविर में घुस आये उन तमाम 'ट्रोजन हॉर्सेज़' को पहचानने की जो लगातार प्रगतिशील और प्रतिगामी साहित्य के बीच की विभाजक रेखा को धूमिल कर रहे हैं।

पुरस्कारों की राजनीति की पड़ताल रचनाकर्म की वैचारिक अंतर्वस्तु की पड़ताल के साथ-साथ करनी होगी।

जबतक पूंजीवादी समाज और संस्कृति मौजूद रहेगी, तबतक मैक्सिम गोर्की द्वारा पूछा गया यह सवाल जिन्दा रहेगा -

''और अब वक्त आ गया है जब आपको इस सीधे-सादे सवाल पर फैसला करना है कि 'संस्कृति के निर्माताओ -- आप किस पक्ष की हिमायत करते है?' संस्कृति के कारीगरो, क्या आप जीवन के नये रूपों के निर्माण के पक्ष में है या आप उनके खिलाफ है और गैरजिम्मेदार कातिलों की जाति को कायम रखना चाहते है – ऐसी जाति को जो सिर से पैर तक सड़ चुकी है और सिर्फ अपनी जड़ता की ताकत पर ही जिन्दा है?''

बिड़ला और मोदी और केडिया घरानों द्वारा सिक्कों से तौले जाने वाले संस्कृति के निर्माता किसके साथ हैं, क्या यह समझ पाना बहुत कठिन है?

(**आह्वान कैम्पस टाइम्स** से साभार)

साहित्य यथार्थ का हिस्सा है। साहित्य जीवन के यथार्थ से बंधा, उससे एकाकार है। जीवन से अलग साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं है और कलाकार का नागरिक से अलग कोई अस्तित्व नहीं है। उसके लिए आत्मसमर्पण का रास्ता अवश्य खुला है, लेकिन आत्मसमर्पण करके एक सर्जनात्मक, जिन्दा लेखक बनने का कोई रास्ता नहीं है।

— हावर्ड फास्ट (साहित्य और यथार्थ)

भूमण्डलीकरण की नीतियों के साथ बाल मजदूरों के बर्बर शोषण में भारी वृद्धि

श्रम की लूट पर टिकी व्यवस्था में 'बचपन बचाया' नहीं जा सकता

● मीनाक्षी

'चाइल्ड लेबर ऐक्शन नेटवर्क' (सी.एल.ए.एन.) नामक संस्था की एक रिपोर्ट के अनुसार, नई आर्थिक नीतियों के कारण पूरी दुनिया में अगले एक दशक के भीतर बाल मजदूरों की संख्या में बीस प्रतिशत की वृद्धि होगी और इसके कारण वयस्कों में बेरोजगारी और अधिक बढ़ेगी।

अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आई.एल.ओ.) की नवीनतम रिपोर्ट के अनुसार, पूरी दुनिया में 10 से 14 वर्ष के बीच की उम्र के लगभग सात करोड़ तीस लाख बाल मजदूर हैं। पर वास्तविक तस्वीर इससे कहीं अधिक भंयकर है। स्वयं आई.एल.ओ. भी स्वीकार करता है कि दस वर्ष से कम उम्र के बाल श्रमिकों और घरों में नौकरानी के रूप में काम कर रही लड़कियों की सही संख्या के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। सी.एल.ए.एन. के अध्यक्ष का कहना है कि बाल श्रमिकों की कुल संख्या आई.एल.ओ. के आकलन से कहीं बहुत ज्यादा है। अकेले दक्षिण एशिया में 10 करोड़ से अधिक बाल श्रमिक हैं। विश्व के कुल बाल मजदूरों का करीब 40 प्रतिशत सिर्फ दक्षिण एशियाई देशों में हैं। अकेले भारत में 5 से 14 वर्ष की आयु के 4 करोड़ बाल मज़दूर अपना बचपन गला रहे हैं।

सी.एल.ए.एन. के अध्यक्ष जोसेफ गाथिया के अनुसार, कुल मजदूरों में 6 प्रतिशत बाल मजदूर है। अधिकांश बाल मजदूर खेतों में या उससे जुड़े व्यवसायों में काम करते हैं। संस्था के अनुसार, बाल मजदूरी का सबसे बड़ा कारण गरीबी है। कई बार बच्चा इसलिए भी काम करने को मजबूर होता है क्योंकि उसके परिवार में कमाने वाले सदस्य की मृत्यु हो गई है या वह गंभीर बीमारी से ग्रस्त है या फिर उसको लगातार सौ दिन दिहाड़ी नहीं मिल पाती। सी.एल.ए.एन. के अनुसार भारत तथा अन्य विकासशील देशों में बाल मज़दूरी की समस्या गंभीरतम है। यहां मज़दूर वर्ग और बाल श्रम सम्बन्धी नीतियों में कोई तालमेल नहीं है। मुफ्त और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की नीतिगत घोषणाओं के बावजूद उन पर अमल नहीं होता। इसी तरह भारत बाल अधिकारों संबंधी घोषणापत्रों पर हस्ताक्षर करने में तो आगे रहता है, पर क्रियान्वयन के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाता।

आई.एल.ओ. की रिपोर्ट के अनुसार, भारत, पाकिस्तान और बांगला देश सहित दक्षिण एशियाई देशों में 10 से 14 वर्ष के बीच की उम्र के बाल मज़दूरों की संख्या का प्रतिशत सबसे ज्यादा है। बांगला देश में इस उम्र के बच्चों में 31.4 प्रतिशत मज़दूर है जबकि पाकिस्तान में ऐसे बच्चों की संख्या करीब 20 प्रतिशत तथा भारत में 15 प्रतिशत है। विश्व भर के कुल बाल मजदूरों में से करीब 44.6 प्रतिशत अकेले एशिया में हैं। अफ्रीका में 10 से 14 वर्ष की उम्र के करीब दो करोड़ 36 लाख मजदूर हैं। यह संख्या विश्व के इस आयु वर्ग के बाल मजदूरों के 26.3 प्रतिशत के बराबर है। रिपोर्ट के अनुसार, अफ्रीका और लातिन अमेरिका में बाल मजदूरों की संख्या लगातार बढ़ रही है।

आई.एल.ओ. के ही एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत, घाना, इंडोनेशिया और सेनेगल जैसे देशों के बाल मजदूरों की हालत यह है कि उन्हें महज कुछ पैसों के लिए हर सप्ताह छः-सात दिन काम के सामान्य घण्टों से भी अधिक औसतन रोजाना करीब नौ घण्टे खटना पड़ता है और मजदूरी की रक़म परिवार के भरण-पोषण के लिए अपने मां-बाप को दे देना पड़ता है। विश्व में कम से कम दस करोड़ बच्चे खदानों में, कालीन और माचिस उद्योग आदि में गुलामों की जिन्दगी बसर करते हैं। करोड़ों दूसरे बच्चे बूट पालिश, घरेलू नौकर और कूड़े बीनने का काम करते हैं या ढाबों-होटलों में बारह से लेकर सोलह घण्टे तक काम करते हैं। लड़के-लड़कियों -- दोनों में ही बाल वेश्याओं की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है।

उक्त सर्वेक्षण के अनुसार, लड़कियां लड़कों से अधिक काम करती है और कई बार तो उनके काम के पैसे तक नहीं मिलते। शहरी बच्चों की तुलना में ग्रामीण बच्चे ज्यादा काम करते हैं। खेती-बाड़ी के काम में हाथ बंटाने का काम उन्हें अधिक करना पड़ता है।

घाना में एक सर्वेक्षण के अनुसार, 16 प्रतिशत बच्चों ने बिना तनख्वाह के काम किया है। 80 प्रतिशत से अधिक मजदूरी करने वाले लड़के 10 से 14 वर्ष के आयु-वर्ग के हैं जबकि ऐसी लड़कियां 75 प्रतिशत से कुछ अधिक है। सेनेगल में 40 प्रतिशत बच्चे मजदूरी करते हैं। 90 प्रतिशत से अधिक

लड़कियां घरेलू नौकरानी के रूप में या खेती में काम करती हैं। 75 प्रतिशत लड़के खेती के काम में लगे हैं। 80 प्रतिशत बच्चों को काम के एवज में पैसे भी नहीं मिलते। दो जून पेट भरने लायक कुछ भी मिल जाना ही उनके लिए नियामत होता है।

अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की रिपोर्ट में यह भी स्वीकार किया गया है कि तीसरी दुनिया के पिछड़े और गरीब देशों में प्राथमिक शिक्षा भरती में 3.1 प्रतिशत की गिरावट आई है। भारत और चीन में प्राथमिक विद्यालयों में भरती की दर 5.2 प्रतिशत से घटकर 2.7 प्रतिशत रह गई है।

कम्प्यूटर, संचार क्रांति, सूचना क्रांति, जेनेटिक इंजीनियरिंग और नये-नये ग्रहों के बारे में जानकारियां जुटाने तथा सुख-सुविधा अधिक चीख-पुकार मचा रहे हैं, छाती पीट रहे हैं और विलाप कर रहे हैं। वे ऐसा क्यों कर रहे हैं, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। पहले पूंजीवाद के इस ''खुले रहस्य'' की चर्चा!

'सस्ता से सस्ता खरीदना और मंहगा से मंहगा बेचना' -- यह पूंजीवाद का मूल मंत्र है। कच्चा माल और मानव-श्रम पूंजीपति सस्ता से सस्ता खरीदता है और अपना माल बाजार में मंहगा से मंहगा बेचता है तथा इस प्रक्रिया में मजदूरों के श्रम का बड़ा से बड़ा हिस्सा निचोड़कर पूंजी का अम्बार खड़ा करता है। कम से कम समय में ज्यादा से ज्यादा उत्पादन करके मजदूर के ज्यादा से ज्यादा अतिरिक्त श्रम को निचोड़ने के लिए वह उन्नत से उन्नत मशीनों का इस्तेमाल करता है, तरह के काम की तलाश में भेजते हैं जिनका श्रम ठेकेदारों, कारखानेदारो, व्यापारियों और तरह- तरह के घरेलू कामों के लिए अमीर लोगों को मिट्टी के मोल हासिल हो जाता हैं बड़े उद्योगों में संगठित मजदूरों को जो सुविधाएं देने और जिन सेवा शर्तों को मानने के लिए पूंजीपतियों को बाध्य होना पड़ता है, उन सुविधाओं और उन सेवा शर्तों के बिना ही छोटे-छोटे वर्कशापों में, असंगठित क्षेत्र में मजदूरों, खासकर स्त्रियों और बच्चों के सस्ते श्रम को निचोड़ने का काम सम्पन्न हो जाता है।

आज स्थिति यह है कि मजदूरों के संगठित दबाव से बचने के लिए और उनके श्रम को अत्यंत सस्ती दरों पर खरीदने के लिए बड़ी-बड़ी देशी-विदेशी कम्पनियां भी

स्वामी अग्निवेश और कैलाश सत्यार्थी जैसे ''बचपन बचाने'' वालों से हमारा यह सवाल है कि उनके अभियानों से क्या इस देश के करोड़ों मजदूर और बंधुआ बच्चों की जिन्दगी मुक्त हो सकती है? यदि सभी मजदूर बच्चों को ऐसे अभियानों के द्वारा एकबारगी मुक्ति मिल भी जाये तो खुली बाजार अर्थव्यवस्था और आर्थिक नवउपनिवेशवादी नीतियां क्या उनकी जगह भरने के लिए बेघर-बेबस लोगों के उतने ही बच्चों को नहीं ला खड़ा करेंगी? क्या महज कुछ कारखानों-खदानों से बाल मजदूरों को मुक्त कराते रहने से बाल मजदूरी के काले कलंक से मानवता मुक्त हो सकेगी?

आखिर ये तमाम 'सान्ता क्लाज' बच्चों को बंधुआ बनाने वाली असली ताकतों की तरफ उंगली क्यों नहीं उठाते? बाल मजदूरों की मुक्ति के लिए प्रचार अभियान चलाने और यहां-वहां से कुछ दर्जन-बच्चों को मुक्त कराकर अखबारी शोशा उछालने के अतिरिक्त अपनी ताकत का एक छोटा सा हिस्सा भी ये लोग साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के विरुद्ध जनता को संगठित करने पर क्यों नहीं खर्च करते?

के एक से एक आधुनिक सरंजाम तैयार करने के जिस युग में खुली बाजार व्यवस्था को पूरी दुनिया में स्थापित करके विकास की नई-नई ऊंचाइयां छूने के दावे किये जा रहे हैं, उसी युग में बच्चों को नर्क के अंधेरे रसातल में गुलामों की जिन्दगी बसर करने के लिए कौन बाध्य कर रहा है?

●

बाल मजदूरी की समस्या कोई नई परिघटना नहीं है जो आज के दौर में पैदा हुई हो। पूंजीवादी वैभव का पूरा अंबार बच्चे और स्त्रियों के खून और पसीने से सराबोर है। उसका एक बड़ा हिस्सा उनके सस्ते श्रम को निचोड़कर तैयार किया गया है। यह पूंजीवाद का एक ''खुला रहस्य'' है, एक ''जगजाहिर गुप्त बात'' है जिसपर वे ''मानवतावादी'' मसीहा -- स्वयंसेवी संस्थाएं और अन्तरराष्ट्रीय संगठन भी पर्दा डालने की लगातार, हर चंद कोशिशें करते रहते हैं, जो आज बाल मजदूरी को लेकर सबसे जिनपर काम करने वाला मजदूर बहुत कम समय में ही अपने भरण-पोषण के लिए मिलने वाली पगार के बराबर मूल्य का उत्पादन कर लेता है और बाकी समय में वह जो उत्पादन करता है, उसकी बिक्री से मिलने वाली रकम अतिरिक्त मूल्य पैदा करती है। इस तरह मुनाफा बढ़ाने के लिए पूंजीपति उन्नत और आधुनिक मशीनें लाता है, जिसपर मजदूरों की एक छोटी तादाद ही बहुत अधिक उत्पादन कर लेती है। मजदूरों की शेष आबादी काम से बाहर कर दी जाती है। 'औद्योगिक बेरोजगारों की इस रिजर्व सेना' की बढ़ती आबादी मजदूरों की मोल-तोल की क्षमता कम करती जाती है और नतीजतन मजदूरी की दर नीचे हो जाती है।

बड़े पैमाने पर बेरोजगार और छंटनीशुदा मेहनतकश अपना श्रम सस्ती से सस्ती दरों पर बेचने के लिए मजबूर हो जाते हैं। उन्हें जब कोई काम नहीं मिलता तो मजबूर होकर वे अपनी स्त्रियों और बच्चों को भी किसी कम्प्यूटर चिप्स और इलेक्ट्रॉनिक सामानों जैसे अत्याधुनिक चीजों के उत्पादन की प्रक्रिया को भी कई हिस्सों में तोड़कर छोटी-छोटी कुटीर उद्योग या घरेलू उद्योगनुमा इकाइयों में बिखरा दे रही है जहां ज्यादा काम ठेके पर कराया जाता है और जिनमें स्त्रियां और बच्चे बेहद कम मजदूरी पर दस-दस, बारह-बारह घण्टे काम करते हैं।

बड़ी संख्या में बेरोजगार मजदूरों और अपनी जगह जमीन से उजड़कर सर्वहारा की कतारों में शामिल होते जा रहे गरीब व मध्यम किसानों के परिवार जब अपने बच्चों का पेट नहीं पाल पाते, तो बूट पालिश करने, कूड़ा बीनने तथा वर्कशापों और ढाबों-चायखानों-होटलों में काम करने के लिए अपने बच्चों को भेजने के अलावा उनके पास कोई रास्ता नहीं रहता क्योंकि दूसरा रास्ता उनके पास सिर्फ भुखमरी का ही होता है। इस स्थिति का भी लाभ पूंजीपति एक और ढंग से उठाते हैं। वे वयस्क मजदूरों को तो

काम नहीं देते, पर स्त्रियों और बच्चों को काम दे देते हैं, क्योंकि उनसे बहुत कम पैसे देकर अधिक काम लिया जा सकता है।

●

स्वयंसेवी संस्थाएं, अंतरराष्ट्रीय संगठन और कैलाश सत्यार्थी के 'बचपन बचाओ आंदोलन' जैसे मुहिम के कर्ताधर्ता प्रायः जब बाल मजदूरी के खिलाफ आवाज उठाते हैं तो वे गरीबों को ही यह उपदेश पिलाते हैं कि वे अपने बच्चों का बचपन उन्हें काम पर भेजकर तबाह करने की जगह उन्हें पाठशालाओं में पढ़ने के लिए भेजें। दूरदर्शन पर सरकार भी यही प्रचार दिखाती है कि बच्चों के हाथ में काम के औजार नहीं खिलौने और किताबें होनी चाहिए। 'चाइल्ड लेबर ऐक्शन नेटवर्क' जैसी स्वयंसेवी संस्थाएं और यूनीसेफ एवं यूनेस्को जैसी संयुक्त राष्ट्रसंघ की एजेंसियां भी गरीब अभिभावकों को ही झाड़ पिलाती नजर आती हैं कि वे शिक्षा का महत्व नही समझ पाने के कारण अपने बच्चों को काम पर लगा देते हैं। इन संस्थाओं की रिपोर्टों में इस तथ्य का उल्लेख रहता है कि ऐसे मां-बाप खुद काम नहीं करते और अपने बच्चों की कमाई से परिवार का खर्च चलाते हैं।

इन सारी नसीहतों का निचोड़ यह होता है बाल-मजदूरी के अभिशाप की जिम्मेदारी गरीब मां-बापों के स्वार्थ, अमानवीयता और पिछड़ेपन की है। पूरे समाज की पूंजीवादी संरचना को कहीं भी कठघरे में नहीं खड़ा किया जाता और एक हजार एक समाधानों के पुलिन्दों से समस्या को और समस्या के शिकार लोगों को ढंक दिया जाता है। इससे ज्यादा घृणास्पद और गरीब मेहनतकशों के लिए अपमानजनक बात कुछ और हो ही नहीं सकती।

एक गरीब मां-बाप अपने बच्चे से मजदूरी इसलिए नहीं करवाते कि वे उन्हे प्यार नहीं करते या कि वे कामचोर होते हैं। वे उन्हें इसलिए गुलामी के उस भयंकर नर्क में भेजते है कि वे खुद उनका पेट नहीं भर सकते और भूख की जलती आग में झुलसकर मरने देने के बजाय वे अपने बच्चों के जिन्दा रहने के अकेले विकल्प को चुनना पसंद करते हैं। बहुसंख्यक गरीब मां-बाप यदि खुद काम नहीं करते और अपने बच्चों की कमाई खाते हैं तो यह उनकी विवशता है न कि स्वार्थ या शौक। यदि कुछ एक गरीब मां-बाप ऐसे हैं भी, तो भी इसके दोषी वे खुद नहीं, यह सामाजिक व्यवस्था है जिसने अनाशा की अंधेरी खाइयों में धकेलकर उनका इस कदर अमानवीकरण कर डाला है। घीसू माधो और आह क्यू जैसे चरित्र इसी व्यवस्था की देन होते हैं।

स्वामी अग्निवेश और कैलाश सत्यार्थी जैसे "बचपन बचाने" वालों से हमारा यह सवाल है कि उनके अभियानों से क्या इस देश के करोड़ों मजदूर और बंधुआ बच्चों की जिन्दगी मुक्त हो सकती है? यदि सभी मजदूर बच्चों को ऐसे अभियानों के द्वारा एकबारगी मुक्ति मिल भी जाये तो खुली बाजार अर्थव्यवस्था और आर्थिक नवउपनिवेशवादी नीतियां क्या उनकी जगह भरने के लिए बेघर-बेबस लोगों के उतने ही बच्चों को नहीं ला खड़ा करेंगी? क्या महज कुछ कारखानों-खदानों से बाल मजदूरों को मुक्त कराते रहने से बाल मजदूरी के काले कलंक से मानवता मुक्त हो सकेगी? क्या इन नये मसीहाओं ने सोचा है कि लाखों बाल मजदूर भी यदि मुक्त हो जायें तो वे क्या खाएंगे, क्या पहनेंगे और किस विद्यालय में पढ़ेंगे? देर-सबेर वे उसी दुश्चक्र में जा फंसेंगे, क्योंकि तमाम स्वयंसेवी संस्थाओं के खैरात से उन सबकी परवरिश नहीं संभव होगी और उनके मां-बाप की यदि इतनी कूव्वत होती तो वे बाल मजदूरी करने को बाध्य ही नहीं होते। आखिर ये तमाम 'सान्ता क्लाज' बच्चों को बंधुआ बनाने वाली असली ताकतों की तरफ उंगली क्यों नहीं उठाते? बाल मजदूरों की मुक्ति के लिए प्रचार अभियान चलाने और यहां-वहां से कुछ दर्जन-बच्चों को मुक्त कराकर अखबारी शोशा उछालने के अतिरिक्त अपनी ताकत का एक छोटा सा हिस्सा भी ये लोग साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के विरुद्ध जनता को संगठित करने पर क्यों नहीं खर्च करते?

सोचने की बात यह भी है कि पिछले कुछ वर्षों से अचानक बालश्रमिकों के अमानवीय शोषण के प्रति पश्चिमी साम्राज्यवादी देश और मुख्यतः उन्हीं के इशारों पर चलने वाली अंतरराष्ट्रीय एजेंसियां इतनी चिन्तित क्यों हो उठी हैं? जो अमेरिका इराक में बमबारी और फिर आर्थिक प्रतिबंधों के द्वारा लाखों बच्चों की हत्या का जिम्मेदार है; जो साम्राज्यवादी देश बोस्निया में, रवाण्डा और लाइबेरिया में, लेबनान में और दुनिया के कई क्षेत्रों में युद्धों और गृहयुद्धों की आग में लाखों बच्चों को हर वर्ष बलि चढ़ाते हैं और लाखों को अनाथ-अपंग बेसहारा बनाते रहे हैं, वे ही अचानक तीसरी दुनिया के तमाम देशों के बाल मजदूरों की समस्या को लेकर इतने बेचैन क्यों हो उठे हैं कि इन देशों की उन तमाम वस्तुओं की अपने देश में बिक्री पर प्रतिबंध लगाने लगे हैं जिनके उत्पादन में बाल श्रम लगा हो? क्या इन रक्त पिपासु लुटेरों और युद्ध पिपासु शैतानों के भीतर अचानक प्रभु यीशू की आत्मा प्रविष्ट हो गई है जो ये तीसरी दुनिया के देशो में तरह-तरह की 'फण्डिंग एजेंसियों' और अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं के द्वारा स्वयंसेवी संगठनों को बाल श्रम विरोधी अभियान चलाने के लिए करोड़ों डालर की खैरात रेवड़ी के मानिन्द बांटने लगे है। पूरे मामले की पेंच यह है कि तीसरी दुनिया के देशों के पूंजीपति वर्ग के साथ मुनाफे के बंटवारे में बड़ा हिस्सा लेने की मोल-तोल में बाल-श्रम के मुद्दे को साम्राज्यवादी एक हथकण्डे के रूप में इस्तेमाल कर रहे हैं।

तीसरी दुनिया का पूंजीपति वर्ग विश्व पैमाने के अधिशेष के विनियोजन (सरप्लस-एप्रोप्रियेशन) में साम्राज्यवादियों के कनिष्ठ साझीदार की भूमिका स्वीकार कर चुका है। पर मंदी के इस दौर में छोटे-बड़े लुटेरों के बीच भी लूट के माल में हिस्सेदारी के सवाल पर कठिन मोल-तोल तो लगातार चलता रहता है। उन्नत मशीनों के दम पर साम्राज्यवादी सस्ता माल बनाकर छोटे पूंजीपतियों को पूरी दुनिया के बाजार में अपने मुकाबले खड़ा नहीं होने देते और असमान शर्तों पर इन छोटे लुटेरों को अपने साथ साझेदारी के लिए बाध्य करते हैं। फिर भी कालीन, सिले-सिलाये वस्त्र आदि बहुतेरी ऐसी उपभोक्ता सामग्रियां हैं, जिनके उत्पादन में तीसरी दुनिया के पूंजीपति अपने देश में उपलब्ध निम्न जीवन स्तर वाले गरीब मजदूरों, स्त्रियों और बच्चों के बेहद सस्ते श्रम का इस्तेमाल करते हैं और फलतः कम लागत के चलते विश्व बाजार में थोड़ी बहुत जगह बनाने की कोशिश करते रहते हैं। उनकी इस हिमाकत पर बंदिश लगाने के लिए ही साम्राज्यवादी देशों की सरकारों, उनके इशारे पर चलने वाली अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं और उनके पैसे से "जनकल्याण" के काम करने वाले स्वयंसेवी संगठनों सान्ता क्लॉज का चोंगा पहनकर तीसरी दुनिया के पूंजीपतियों को धमकाना शुरू कर दिया है कि यदि वे बाल-मजदूरी को समाप्त नहीं करेंगे तो उनका

माल पश्चिम के बाजारों में घुसने नहीं पायेगा। यानी असली झगड़ा बाजार का है जिसे मानवतावाद के रामनामी दुपट्टे से ढंका जा रहा है। अब बाजार के इस विवाद में छोटे लुटेरे चूंकि बड़े लुटेरों के सामने झुकने के लिए अंततोगत्वा बाध्य हैं, इसलिए भारत और तीसरी दुनिया के अन्य कई देशों की सरकारें बाल-मजदूरी के खिलाफ प्रचार करने, कानून बनाने और बाल-मजदूरी पर संभव हद तक नियंत्रण भी स्थापित करने के लिए बाध्य है। हालांकि यह भी सच है कि जिन बच्चों को जीने के लिए कुछ न कुछ करने की मजबूरी है, वे तो मजदूरी करेंगे ही। कालीन बनाने या माचिस बनाने में नहीं लगेंगे तो मोमबत्ती, ब्रेड बनाने के वर्कशापों में लगेंगे, सड़कों पर बूट पालिश करेंगे, ढाबों में काम करेंगे या कुछ भी करेंगे। यह कोई मासूम या मूर्ख ही सोच सकता है कि जबतक बच्चों की जिन्दगी की बुनियादी जरूरतें पूरी नहीं होंगी, तबतक कानून बनाकर और उसे लागू करके (वैसे तो लागू ही नहीं हो सकता) बाल-मजदूरी रोकी जा सकेगी।

और बात सिर्फ इतनी ही नहीं है। हर पूंजीवादी व्यवस्था को भ्रम पैदा करने के लिए, अपनी असलियत पर पर्दा डालने के लिए और जन असंतोष के दवाव को कम करते रहने वाले सेफ्टी-वॉल्व के रूप में काम करने के लिए कुछ सुधारवादियों की और कुछ सुधार-कार्यक्रमों की जरूरत पड़ती ही रहती है। साम्राज्यवादियों के पैसे से चलने वाली स्वयंसेवी संस्थाएं और सुधारवादी संगठनों तथा सरकार के सुधार कार्यक्रम यही करते हैं। यूनिसेफ, यूनेस्को, आई.एल.ओ. आदि भी यह काम करते हैं। पूंजीवादी सरकारें भी ''कल्याणकारी राज्य'' के दायित्वों का अनुपालन करते हुए यही करती है। बाल-मजदूरी विरोधी सुधारवादी चिल्ल-पों के पीछे यह भी एक दूरदृष्टि काम कर रही है। ''बचपन बचाओ'' का डिटर्जेंट वास्तव में इस पूंजीवादी व्यवस्था के दामन पर लगे बच्चों के खून के धब्बों को रगड़-रगड़ कर धोने का काम कर रहा है। उसका मकसद इस व्यवस्था को नष्ट करने के उद्यम में लगकर वास्तव में बाल-मजदूरी का समूल नाश करना नहीं है, बल्कि इसका दिखावा करके इस व्यवस्था के बारे में भ्रम पैदा करना और जनता को दिग्भ्रमित करना है, उसके चेतना का क्रांतिकारीकरण करने के बजाय उसे भोथरा बनाना है।

बाल मजदूरी के मुद्दे को पूरी आबादी के रोजगार और समान एवं सर्वसुलभ शिक्षा के मूलभूत अधिकार के लिए संघर्ष से अलग करके देखा ही नहीं जा सकता। जो व्यवस्था सभी हाथों को काम देने के बजाय करोड़ों बेरोजगारों की विशाल फौज में हर रोज इजाफा कर रही है, जिस व्यवस्था में विकास का हर कदम रोजगार के अवसरों को कम करता है और समृद्धि के इर्द-गिर्द फैली दरिद्रता के सागर को और अधिक विस्तार देता है, जो व्यवस्था शिक्षा को सभी नागरिकों के लिए सुलभ बनाने के बजाय उसे खरीद-फरोख्त का सामान बना देती है और खुली बाजार व्यवस्था में उसे मुट्ठी भर लोगों का विशेषाधिकार बना देती है, उसी व्यवस्था के भीतर से लगातार बाल-मजदूरों की अन्तहीन कतारें निकलती रहेंगी। उस व्यवस्था की अनैतिक-अनुचित उपस्थिति पर ही सवाल उठाये बिना बच्चों को बचाना संभव नहीं, बाल मजदूरों की मुक्ति संभव नहीं।

प्रश्न यहां यह नहीं है कि बाल मजदूरों को मुक्त कराने का, बाल मजदूरी विरोधी कानून को प्रभावी बनाने का आंदोलन चलाया जाये या नहीं। अवश्य चलाया जाये, पर इसका परिप्रेक्ष्य यदि क्रांतिकारी नहीं होगा, साम्राज्यवाद-पूंजीवाद विरोधी नहीं होगा, यदि साम्राज्यवाद-पूंजीवाद विरोधी जनता के विभिन्न वर्गों और हिस्सों के संघर्षों से यह आंदोलन जुड़ा नहीं होगा और यदि यह एक समग्र क्रांतिकारी कार्यक्रम का अंग नहीं होगा तो यह महज एक सुधारवादी आंदोलन होगा जो दूरगामी तौर पर व्यवस्था की सेवा करेगा (और कर रहा है)। सुधारवाद और सुधारपरक कार्रवाई में फर्क किया जाना चाहिए। वैसे ही जैसे कि अर्थवाद और आर्थिक कार्य एवं आर्थिक संघर्षों में फर्क किया जाना चाहिए।

(प्रांजल फीचर सेवा)

भगतसिंह के जन्मदिवस (27 सितम्बर) और पाश के जन्मदिवस (11 सितम्बर) के अवसर पर

भगतसिंह पंजाब का पहला विचारक था जिसने समाज की संरचना पर वैज्ञानिक ढंग से विचार किया था। पहला बुद्धिमान था जिसने दुखों और सामाजिक समस्याओं की निचली तहों तक गहराई में पड़ी विषमताओं की पहचान की थी। वह पहला देशभक्त था जिसके मन में समाज सुधार का एक निश्चित दृष्टिकोण था। वह पहला पंजाबी महापुरुष था जिसने भावनाओं और बुद्धि के सामंजस्य के लिए धुंधली मान्यताओं का सहारा नहीं लिया था। वह पहला पंजाबी था जो देशभक्त के प्रदर्शनवादी विचारों से मुक्त हो सका था। वह पहला पंजाबी था जिसने गांधीवाद के थोथे और पिलपिले मानववाद और आदर्शवाद को ललकारा था।

पंजाब की विचारधारा को उसकी देन साण्डर्स की हत्या, असेम्बली में बम फेंकने, फांसी के फंदे में लटकने से कहीं ज्यादा बड़ी है। भगतसिंह ने पहली बार पंजाब को पशुपने, पहलवानी और जहालत से बुद्धिवाद की तरफ मोड़ा था।

भगतसिंह की तस्वीरों पर हार डालने, उसकी शहादत पर कविताएं लिखने से लाभ नहीं होगा। जरूरत है उसकी विचारधारा को समझने की, उसे आगे बढ़ाने की। जिस दिन उसे फांसी लगी, उसकी कोठरी से लेनिन की किताब मिली थी जिसका एक पन्ना मोड़ा हुआ था।

पंजाब की जवानी को उसके आखिरी दिन के मोड़े हुए पन्ने से आगे बढ़ाना है।

— पाश

मार्क्स और पर्यावरण

जान बेलेमी फॉस्टर

एक आलोचक के शब्दों में, "प्रबोधन के प्रत्याख्यान के वर्तमान उत्तर आधुनिक परिप्रेक्ष्य" के साथ पारिस्थितिकीय चेतना के विकास का तादात्म्य स्थापित करना, हाल के वर्षों में, फैशन बन गया है। हमसे अक्सर कहा जाता है कि "हरित चिन्तन" की विशिष्टता इसका उत्तर आधुनिक, उत्तर प्रबोधन, परिप्रेक्ष्य है। यह फैशन मार्क्स और एंगेल्स को लक्ष्य करके की जाने वाली कुछ आलोचनाओं में सर्वाधिक स्पष्टता से प्रकट हो रहा है। अक्सर कहा जाता है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद, अपने दो संस्थापकों के कार्यारम्भ के समय से ही, उन मुख्य स्रोतों में से एक रहा है जिनके जरिये प्रकृति पर प्रभुत्व की बेकनियन (Baconian) धारणा आधुनिक विश्व में संचरित हुई। इस व्याख्या के प्रचलन की सूचना स्वयं वाम के विश्लेषण के भीतर इसके अक्सर प्रकट होते रहने से मिलती रहती है। समाजवादी पारिस्थितिकीय-नारीवादी (ecofeminist) **कैरोलिन मर्चेण्ट** लिखती हैं, "हालांकि मार्क्स और एंगेल्स ने पूंजीवाद की 'पारिस्थितिकीय' कीमतों के प्रति असाधारण समझदारी और संवेदनशीलता प्रदर्शित की... फिर भी वे प्रकृति पर प्रभुत्व के जरिये प्रगति के प्रबोधन (enlightment) वाले मिथक में ही जा फंसे।"[1]

निस्सन्देह इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि मार्क्स के पदचिन्हों का अनुसरण करने का दावा करने वालों में से ही बहुतेरों ने प्रकृति को शोषित की जाने वाली एक वस्तु से अधिक और कुछ नहीं समझा। लेकिन आज के आलोचकों के लिए यह दलील देना आम बात हो गयी है कि स्वयं मार्क्स और एंगेल्स की विश्व दृष्टि ही, सर्वप्रमुख रूप से, प्रकृति के आत्यंतिक तकनोलाजिकीय वशीकरण में बद्धमूल थी, और कि उनके द्वारा विशिष्ट क्षेत्रों में पारिस्थितिकीय संवेदनशीलता प्रदर्शित किये जाने के बावजूद, अभी भी यही प्राथमिक सन्दर्भ बना हुआ है, और निश्चय ही इसी में उनके सैद्धान्तिक योगदानों की जांच भी की जानी चाहिए। अतएव मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी कभी भी पूरी तरह संगत नहीं है।

यह सामान्य आलोचना जिस प्रमुख आरोप पर आधारित है वह यह है कि मार्क्स ने जो दृष्टि अख्तियार की, वह वही है जिसे समाजवादी पर्यावरणवादी **टेड बेण्टन** -- जो स्वयं इस मामले में मार्क्स के आलोचक हैं --"इतिहास की प्रोमिथियाई, उत्पादनवादी दृष्टि" कह चुके हैं। **रेनर ग्रुण्डमान** इसी सुर में सुर मिलाते हुए, अपनी पुस्तक **मार्क्सिज्म ऐण्ड इकॉलॉजी** में लिखते हैं कि "मार्क्स का आधारभूत उपक्रम" प्रकृति पर प्रभुत्व का "प्रोमिथीयाई मॉडल" ही था -- अर्थात यही उनकी अवस्थिति थी जिसका ग्रुण्डमान बचाव करने का प्रयास करते हैं। परन्तु उदारवादी **विक्टर फर्किस** के अनुसार कोई बचाव सम्भव नहीं है: "विश्व के प्रति मार्क्स का दृष्टिकोण हमेशा ही एक प्रोमीथियाई पिपासा धारण किये रहा है, जो प्रकृति पर मानव की विजय को गौरवान्वित करता है।" सामाजिक पारिस्थितिकीविद् (पारिस्थितिकीय अराजकतावादी) **जान क्लार्क** इससे भी आगे जाते हैं : मार्क्स का प्रोमीथियाई...."मनुष्य" एक ऐसी सत्ता है जो प्रकृति के भीतर सुखी नहीं है, जो पृथ्वी को पारिस्थितिकी के "घर" के रूप में नहीं देखता। वह एक ऐसी अदम्य आत्मा है जिसे अपने आत्म-बोध की प्राप्ति के लिए प्रकृति को वश में करना आवश्यक है...। एक ऐसी सत्ता के लिए, प्रकृति की शक्तियां, चाहे वे उसकी अपनी ही अनियंत्रित आन्तरिक प्रकृति के रूप में हों या बाह्य प्रकृति की डरावनी शक्तियां हों, वशवर्ती होनी ही चाहिए।[2]

निश्चय ही इस एक आलोचना के अतिरिक्त और भी आम पर्यावरणीय आलोचनाएं हैं जो मार्क्स और एंगेल्स पर (अर्थात समूचे मार्क्सवाद पर) केन्द्रित हैं। उदाहरण के लिए, बेण्टन दलील देते हैं कि मार्क्स "निरपवाद रूप से मानव केन्द्रित" थे और कि उन्होंने ऐसे किसी भी फ्रेमवर्क का विरोध किया जो आर्थिक प्रगति की प्राकृतिक सीमाओं को स्वीकार करता था। हमसे अक्सर कहा जाता है कि मार्क्सीय मूल्य सिद्धान्त ने श्रम (शक्ति) को सभी मूल्यों के स्रोत की संज्ञा दे डाली, और इस तरह प्रकृति में कोई भी आन्तरिक मूल्य निहित होने से इंकार कर दिया। फिर, पतन से पूर्व सोवियत संघ और पूर्वी यूरोपीय शासन-व्यवस्थाओं में जो निराशाजनक पारिस्थितिकीय निष्पादन रहा, उसे भी मार्क्स द्वारा अपने विद्वतापूर्ण निरूपण में पारिस्थितिकीय सरोकारों को शामिल कर पाने में असफल रह जाने के एक सामान्य प्रतिबिम्बन के रूप में ही देखा जाता है।

फिर भी यह प्रोमिथियसवाद का आरोप ही है जो मार्क्स की हरित (ग्रीन) आलोचनाओं में केन्द्रीय स्थान ग्रहण किये हुए है। अब तो हम विश्वास करने पर विवश हो चले हैं कि सच्चा पर्यावरणवाद स्वयं आधुनिकता को ही खारिज कर दिये जाने से कतई कम की अपेक्षा नहीं करता। इस प्रकार, प्रोमिथियसवाद का आरोप मार्क्स के कार्य और सम्पूर्ण मार्क्सवाद को आधुनिकतावाद के एक ऐसे चरम संस्करण के रूप में कलंकित कर डालने का एक अप्रत्यक्ष तरीका है जो इस मामले में शायद स्वयं उदारतावाद की अपेक्षा अधिक आसानी से तिरस्कृत किया जा सकता है। इसीलिए उत्तराधुनिक पर्यावरणवादी **वेड सिकोर्स्की** लिखते हैं कि "मार्क्स.... हमारे युग के सबसे कट्टर मशीन पूजक थे। पूंजीवाद अपने पापों के लिए क्षम्य था क्योंकि ..... वह मशीन का परिष्कार करने की प्रक्रिया में था।"[3]

इस दावे का एक बहुत लम्बा स्मरणीय इतिहास है कि मार्क्स का कृतित्व अपरिष्कृत "प्रोमिथियसवाद" पर आधारित है। मार्क्सवाद के बुर्जुआ आलोचक **इस्खिलस** की कृति **प्रोमिथियस बाउण्ड** के बारे में मार्क्स द्वारा बार-बार दिये गये साहित्यिक सन्दर्भों का इस्तेमाल, लम्बे समय से यह दिखाने के लिए करते आ रहे हैं कि वैज्ञानिक समझदारी के प्रति उनकी प्रकट प्रतिबद्धता के पीछे एक "मिथकीय-धार्मिक" संस्थापना निहित है। फिर भी यह स्मरण कर लेना महत्वपूर्ण है कि एकमात्र मार्क्स ही ऐसे चिन्तक नहीं थे जो प्रोमिथियस के उस यूनानी मिथक की

ओर आकर्षित हुए थे, जो समूचे स्वच्छन्दता काल का प्रभुत्वशाली सांस्कृतिक नायक था, और जो पश्चिमी संस्कृति में केवल तकनोलाजी का ही नहीं, बल्कि उससे भी अधिक, सृजनशीलता और क्रान्ति का, तथा देवताओं के विरुद्ध (धर्म के विरुद्ध) विद्रोह का, प्रतीक था। रुबेन्स, टिशियन, दांते, मिल्टन, ब्लैक, गेटे, बीथोवेन, बायरन, शेली और तमाम दूसरे रचनाकारों ने प्रोमीथियस को अपनी रचनाओं में एक केन्द्रीय तत्व के रूप में समाविष्ट किया है।[4]

मार्क्स की निजी रचनाओं में प्रोमिथियस की अवधारणा, तकनोलाजी के एक प्रतीक की अपेक्षा, क्रान्ति के प्रतीक के रूप में ही प्रायः अधिक हुई है। यह सच है कि यूनानी मिथकशास्त्र में देवता (टाइटन) प्रोमिथियस मानवता के लिए आग लेकर आया। लेकिन मार्क्स के लिए इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि जिऊस ने, प्रतिकारस्वरूप, प्रोमिथियस को हमेशा के लिए जंजीरों में बांध दिया, जहां से उसने छुटकारा पाने का प्रयास किया। महान त्रासदीकार इस्खिलस के लिए, जैसा कि **एलेन मिक्सिन्स वुड** ने **पेजेण्ट सिटिजन ऐण्ड स्लेव** में विवेचित किया है, प्रोमिथियस ''दासता और स्वेच्छाचारी शासन के प्रति एथेनियाई विरोध का मूर्त रूप था, क्योंकि वह जिऊस की दासवृत्ति से घृणा करता था।'' इसके अतिरिक्त, एथेनियाई जनतंत्र के मूल्यों को प्रतिबिम्बित करने वाले प्रोमिथियस मिथक के एक संस्करण के तौर पर, इस्खिलस की कृति **प्रोमिथियस बाउण्ड** में, आज जिसे तकनोलाजी के रूप में जाना जाता है, उसकी नहीं बल्कि श्रम, शिल्पकारिता और सृजनशीलता के उपहार – उन व्यावहारिक कलाओं को प्रतिष्ठित किया गया है जिनकी नींव में जनतंत्र है। प्राचीन एथेन्स के लिए प्रोमिथियस का मिथक इतने केन्द्रीय महत्व का था कि जनतंत्र के अन्तर्गत श्रमशील नागरिकों और जनतंत्र के कुलीनतांत्रिक विरोधियों के बीच की वर्ग शत्रुता को क्रमशः **इस्खिलस** की कृति **प्रोमिथियस बाउण्ड** और **प्लेटो** की कृति **स्टेट्समैन** में इसी मिथक को नितान्त भिन्न-भिन्न निरूपणों में देखा जा सकता है। प्राचीन काल के इस द्वंद्व के क्रान्तिकारी वर्ग-चरित्र को समझ कर ही मार्क्स ने अपनी पक्षधरता प्लेटो के बजाय, इस्खिलस के प्रोमिथियस के साथ स्थापित की।[5]

यह सब प्रोमिथियस के प्रति मार्क्स के निजी सन्दर्भों को समझने के लिए भले ही महत्वपूर्ण है, फिर भी यह अप्रासंगिक लग सकता है, क्योंकि पश्चिमी सभ्यता के आरम्भ से पूर्व डेढ़ हजार वर्षों की अवधि तक मौजूद रही इस समृद्ध सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की कोई भी चीज आज के इन सांस्कृतिक और पर्यावरणीय आलोचकों के साहित्य में मौजूद नहीं है जो प्रबोधन की पूरी परम्परा पर, और खासतौर से, मार्क्स और एंगेल्स पर, आज के दौर में, प्रोमिथियसवाद का आरोप चस्पां कर रहे हैं। ऐसे आलोचकों के साहित्य में प्रोमिथियस को, उसकी अधिकांश ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रतीक में रूपान्तरित कर दिया गया है, जो आत्यंतिक उत्पादनवाद और (मानव प्रकृति समेत) प्रकृति पर प्रभुत्व का प्रतीक है। निस्संदेह, प्रोमिथियस के यूनानी मिथक द्वारा प्रतीकाथित मानवीय सृजनशीलता की धारणा आज के तमाम उत्तराधुनिक आलोचकों की दृष्टि में जिस प्रकार भोंडे उत्पादनवाद और प्रकृति के तकनोलाजीकीय अधीनीकरण के साथ एकाकार हुई है, उससे यह चौंकाने वाला संकेत मिल रहा है कि पूंजीवाद की प्रभुत्वशाली विश्व दृष्टि ऐसे चिन्तन में कितने गहरे पैठ चुकी है।

इस दिशा में प्रोमिथियाई मिथक का क्लासिकीय पुनस्सूत्रीकरण **हर्बर्ट मार्क्यूस** की कृति **इरोस ऐण्ड सिविलाइजेशन** में देखा जा सकता है, जिसमें दलील दी गयी है कि

''जो धरती हमारी एकमात्र और सबकुछ है, जो हमारे अस्तित्व की पहली शर्त है -- उसी धरती को फेरी लगाकर बेचने की वस्तु बना देना ही वह आखिरी कदम था जिसने स्वयं व्यक्ति को ही फेरी लगाकर बेचे जाने की वस्तु बना दिया।'' – एंगेल्स

प्रोमीथियस जो (यूरोपीय संस्कृति का) संस्कृति नायक है, धूर्त और देवताओं के विरुद्ध ऐसा (पीड़ित) विद्रोही है जो अनवरत कष्ट झेलते हुए संस्कृति की रचना करता है। वह उत्पादकता को, जीवन पर प्रभुत्व कायम करने के अनवरत प्रयास को, प्रतीकायित करता है...। प्रोमिथियस कठिन श्रम, उत्पादकता और दमन के जरिये प्रगति का संस्कृति नायक है।

पश्चिमी आधुनिकता पर इस एकांगी जोर के विरोध में मार्क्यूस का आग्रह है कि, विरोधी ध्रुवक पर एक दूसरे यथार्थ सिद्धान्त की खोज आवश्यक है। आर्फियस और नार्सियस... एक अत्यन्त भिन्न यथार्थ के प्रतीक हैं। वे पश्चिमी जगत के संस्कृति नायक नहीं बन सके हैं : उनकी छवि सुख संतोष की है... वे एक ऐसी दुनिया के अनुभव की याद करते हैं जिसे अधीनीकृत और नियंत्रित नहीं, बल्कि मुक्त होना है।[6]

मार्क्यूस उस उपकरणात्मक तर्कपरकता की एक आलोचना विकसित कर रहे थे जो सम्पूर्ण पश्चिमी औद्योगिक संस्कृति की अभिलाक्षणिकता थी (जिसके अन्तर्गत पूंजीवाद और जिसे **राय मेदवेदेव** ने ''बैरकों का मिथ्या समाजवाद'' कहा है, दोनो ही शामिल थे'')। लेकिन उनकी दलील को हममें से कुछ ने, खासतौर से मार्क्स की ''कट्टर आलोचना'' कहा। मार्क्यूस के मूल विषय की हूबहू इसी ढंग से व्याख्या **मार्शल बरमैन** की पुस्तक, **आल दैट इज सालिड मेल्ट्स इनटु एअर** में की गयी है, लेकिन इसके बावजूद इसमें यह दलील भी दी गयी है कि मार्क्स को अपरिष्कृत प्रोमिथियसवाद के प्रस्तोता के रूप में देखना गलत है। बरमैन के अनुसार,

''यदि मार्क्स किसी चीज़ के प्रति वस्तु-पूजक जैसे हैं भी, तो वह चीज़ कार्य और उत्पादन नहीं, बल्कि विकास का अपेक्षाकृत अधिक जटिल और बोधगम्य आदर्श है- जो ''शारीरिक और आत्मिक ऊर्जाओं का मुक्त विकास'' है (1844 की पाण्डुलिपियां)...... मार्क्स प्रोमीथियस और ऑर्फियस को समाविष्ट करना चाहते हैं, वह साम्यवाद को संघर्षशील रूप में देखते हैं, क्योंकि इतिहास में पहली बार यही मनुष्यों को दोनों का हृदयंगम करने योग्य बना सकेगा....। वह जानते थे कि अन्तरविरोधों के पार जाने वाला रास्ता आधुनिकता से होकर ही जायेगा, उससे परे होकर नहीं।''[7]

निश्चय ही यह दलील देना सम्भव है, जैसा कि समाजवादी पर्यावरणवादी **केटा सायर** ने अपने निबन्ध में ''ग्रीटिंग प्रोमीथियस'' में दिया है, कि ''मार्क्स के प्रोमीथियसवाद'' में एक खास ''अस्पष्टता'' थी जिसका कोई व्यक्ति उनके चिन्तन की एक हरित व्याख्या विकसित करने में दुरुपयोग कर सकता है। लेकिन जो सतह पर महज ''अस्पष्टता'' के रूप में प्रतीत हो रही है उसे और सम्यक ढंग से एक द्वंद्वात्मक तनाव के रूप में समझा जा सकता है, जो मार्क्स द्वारा, उन घिसे-पिटे तरीकों से आगे बढ़कर किये गये प्रयास का परिणाम था जिनके माध्यम से मानवीय उत्पादन और प्रकृति पर प्रभुत्व का चित्रण प्रबोधन की परम्परा में किया जाता था। जैसा कि मार्क्यूस के छात्र **विलियम लीस** ने अपने अविस्मरणीय अध्ययन **दि डामिनेशन आफ नेचर** में निरूपित किया है, ''प्रकृति पर प्रभुत्व'' ''प्रकृति पर नियंत्रण'' और ''प्रकृति पर शासन'' जैसी उक्तियां उन्नीसवीं सदी के चिन्तन के भीतर लगभग सार्वभौमिक थीं, तथा वे इसी प्रकार से और विविध और जटिल रूप धारण करती गयीं। अतः मार्क्स और एंगेल्स द्वारा यदाकदा ऐसी शब्दावलियों के महज प्रयोग से ही यह बात नहीं स्थापित हो जाती

कि उन्होंने एक आत्यंतिक उत्पादनवादी दृष्टिकोण अख्तियार कर लिया था। बेशक, जैसा कि लीस ने दृढ़तापूर्वक कहा है, यदि मार्क्स और एंगेल्स की कृतियों को समग्रता में देखा जाये तो वे *"प्रकृति पर प्रभुत्व सम्बन्धी उन जटिल मुद्दों पर सबसे गहरी अन्तर्दृष्टि प्रस्तुत करती हैं जिन्हें उन्नीसवीं सदी के सामाजिक चिन्तन में या उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से, पूर्ववर्ती कालों की रचनाओं में कहीं भी देखा जा सकता है।"*[8]

मार्क्स के विश्लेषण से जो बात स्पष्ट तौर पर उभर कर सामने आयी थी, वह यह थी कि मानवता और प्रकृति परस्पर सम्बन्धित हैं, जिनके साथ ऐतिहासिक रूप से विकसित उत्पादन सम्बन्ध का रूप जुड़ा होता है, जो किसी दिये गये काल में उस पारस्परिक सम्बन्ध का सार होता है। जैसा कि उन्होंने अपनी कृति **1844 की आर्थिक और दार्शनिक पाण्डुलिपियां** में लिखा,

"मनुष्य प्रकृति से जीता है, अर्थात, प्रकृति उसका शरीर है, और यदि उसे मृत्यु को नहीं प्राप्त होना है तो इसके साथ उसे एक सतत संवाद बनाये रखना आवश्यक है। यह कहना कि मनुष्य का शारीरिक और मानसिक जीवन प्रकृति से जुड़ा हुआ है, बस यही अर्थ रखता है कि प्रकृति स्वयं से जुड़ी हुई है, क्योंकि मनुष्य प्रकृति का ही एक भाग है।"[9]

उत्पादकतावाद के महज पूजक होने से कोसों दूर, मार्क्स और एंगेल्स ही तो इसके दो सर्वप्रमुख आलोचक थे। जैसा कि युवा **एंगेल्स** ने 1844 में लिखा, *"जो धरती हमारी एकमात्र और सबकुछ है, जो हमारे अस्तित्व की पहली शर्त है -- उसी धरती को फेरी लगाकर बेचने की वस्तु बना देना ही वह आखिरी कदम था जिसने स्वयं व्यक्ति को ही फेरी लगाकर बेचे जाने की वस्तु बना दिया।"* पूंजीवाद के अन्तर्गत जैसाकि मार्क्स ने कहा था, सारे प्राकृतिक और मानवीय सम्बन्ध मुद्रा के सम्बन्धों में विघटित कर दिये गये हैं। "निष्ठुर 'नकद भुगतान' द्वारा शासित" एक समाज के बजाय उन्होंने एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का सपना देखा था जो मानवीय क्षमताओं के बहुपक्षीय विकास, और हम जिस प्रकृति के भाग है उसके साथ तर्कपरक मानवीय सम्बन्ध को आगे बढ़ाती। उन्होंने **पूंजी** के तीसरे खण्ड के अन्तिम भाग में लिखा कि मानवीय स्वतंत्रता के अग्रवर्ती विकास में *"समाजीकृत मनुष्य, साहचर्यबद्ध उत्पादक होंगे, जो प्रकृति को उनके ऊपर एक अंधी शक्ति के रूप में शासन करने देने के बजाय, उसके साथ अपने भौतिक विनिमय को नियमित करेंगे, और उसे सामूहिक नियंत्रण के अन्तर्गत ला देंगे।"*

मार्क्स का मानना था कि मानव समुदाय प्रकृति के साथ अपनी अन्तःक्रिया को नियंत्रित करने की आवश्यकता से अपने आपको उतना मुक्त नहीं कर सकता, जितना कि वह मानव अस्तित्व की प्राकृतिक दशाओं पर विचार करने की आवश्यकता से अपने आपको मुक्त कर सकता है। प्रकृति और मानवता के बीच सम्बन्ध का तर्कपरक नियंत्रण अभी भी उसके द्वारा अपने लिए उत्पादन में किये जा रहे सतत विस्तार की खातिर प्रकृति के यांत्रिक अधीनीकरण के अन्तर्निहित विरोध में ही है। लेकिन स्वतंत्रतापूर्वक साहचर्यबद्ध उत्पादकों के एक समाज में, जैसाकि मार्क्स का कहना था, सामाजिक जीवन का लक्ष्य स्वत्वबोधक-व्यक्तिवादी समाज के संकीर्ण अर्थों में किया जाने कार्य और उत्पादन नहीं, बल्कि अपने आपमें एक उद्देश्य के रूप में, मानवीय सृजनात्मक क्षमता का सर्वतोमुखी विकास होगा, जिसकी *"बुनियादी पूर्वापेक्षा कार्य दिवस का छोटा होते जाना है।"* इसी से स्वतंत्रता के एक ऐसे राज्य के प्रादुर्भाव की मंजिल आयेगी जिसमें मनुष्य परस्पर तथा प्रकृति के साथ संयुक्त होंगे।[10]

इन दशाओं की प्राप्ति के लिए जैसा कि मार्क्स का मानना था, प्रकृति के साथ मानवीय सम्बन्ध में एक आमूलचूल परिवर्तन आवश्यक होगा। भूमि के निजी स्वामित्व की समाप्ति और स्वतंत्रतापूर्वक साहचर्यबद्ध उत्पादकों के एक समाज के विकास होने पर ही पहली बार प्रकृति के साथ भूमण्डलीय सम्प्रेषणीयता सम्भव हो सकेगी। भावी पीढ़ियों के लिए भूमण्डल की रक्षा की आवश्यकता को इंगित करते हुए **मार्क्स** ने कहा था :

"समाज के एक उच्चतर आर्थिक रूप की दृष्टि से भूमण्डल पर एकल व्यक्तियों का निजी स्वामित्व एकदम उतना ही असंगत हो जायेगा जितना कि एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य पर निजी स्वामित्व। एक पूरा समाज, एक राष्ट्र या यहां तक कि सभी के सभी साथ-साथ अस्तित्वमान समाज मिलकर भी भूमण्डल के स्वामी नहीं हैं। वे मात्र इसके धारणकर्ता भोक्ता और नेक परिवार पालक पिता की भांति हैं, अतः उनके लिए आवश्यक है कि वे इसे एक उन्नत दशा में ही उत्तरवर्ती पीढ़ियों को सौंपे।"[11]

मार्क्स का कहना था कि कृषि की वास्तविक उद्देश्य *"मुद्रा की तत्काल प्राप्ति की दिशा में निर्दिष्ट पूंजीवादी उत्पादन की समस्त चेतना"* के विपरीत *"उत्तरवर्ती पीढ़ियों की श्रृंखला के लिए आवश्यक जीवन की सभी स्थायी आवश्यकताओं को पूरा करना है।"* अतः धरती के संसाधनों के अदूरदर्शितापूर्ण पूंजीवादी दोहन और वास्तविक रूप से सम्पोषणीय उत्पादन के दीर्घकालिक चरित्र के बीच एक सीधा अन्तर्विरोध है। मार्क्स ने बार-बार जोर देते हुए कहा है कि स्वतंत्रतापूर्वक साहचर्यबद्ध उत्पादकों के एक समाज में आर्थिक प्रगति उन प्राकृतिक और भूमण्डलीय दशाओं को बिना संकट में डाले की जायेगी, जिनपर भावी पीढ़ियों का हित निर्भर होगा। वस्तुतः विकास की अवधारणा की यही वह परिभाषा है जो सर्वोत्तम ढंग से ब्रुण्टलैण्ड कमीशन की रिपोर्ट आवर कामन फ्यूचर, में अब दी गयी है, जिसमें उसे ऐसे "विकास" के रूप में परिभाषित किया गया है *"जो भावी पीढ़ियों द्वारा अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने की उनकी क्षमता को बिना संकटग्रस्त किये, वर्तमान की आवश्यकताओं को पूरा करे।"*[12]

यद्यपि मार्क्स ने अपनी रचनाओं में अपना ध्यान पूंजीवाद की पारिस्थितिकीय आलोचना पर केन्द्रित नहीं किया -- जिसका कारण निस्संदेह उनका यह सोचना था कि ऐसी समस्याओं के वास्तव में संकट बनने से काफी पहले ही पूंजीवाद का स्थान स्वतंत्रतापूर्वक साहचर्यबद्ध उत्पादकों का एक समाज ले लेगा -- फिर भी सम्पोषणीयता के प्रति उनके संकेत यह सूचित करते हैं कि वे व्यवस्था की पारिस्थितिकीय लूटपाट को पूरी संजीदगी से जान रहे थे। इस मामले में उनके सरोकारों के केन्द्र में पूंजीवादी औद्योगीकरण द्वारा भूमि के अपक्षयण के रूप में पड़ने वाला प्रभाव ही था। इस मामले में सर्वोत्तम अवतरण **पूंजी** के खण्ड एक में *"बड़े पैमाने का उद्योग और कृषि"* पर दिये गये सेक्शन में देखा जा सकता है, जो *"मशीनरी और बड़े पैमाने का उत्पादन"* शीर्षक से मार्क्स द्वारा रचित कुंजीभूत अध्याय का अन्तिम, चरमोत्कर्ष पर पहुंचा हुआ भाग है। वहां पर मार्क्स बताते हैं कि,

"पूंजीवादी कृषि की समूची प्रगति केवल मजदूरों को ही नहीं, बल्कि भूमि को भी लूट लेने वाली कला की प्रगति है; एक दिये गये समय में भूमि की उर्वरता बढ़ाने की समूची प्रगति उस उर्वरता के चिरस्थायी स्रोतों को बर्बाद कर डालने वाली प्रगति है। एक देश, अपने विकास की पृष्ठभूमि के तौर पर बड़े पैमाने के उद्योग के आधार पर जितना ही आगे की ओर बढ़ता है, विनाश की यह प्रक्रिया भी उतनी ही तीव्र होती जाती है। इसीलिए पूंजीवादी उत्पादन सम्पूर्ण सम्पदा -- भूमि और मजदूर के आदि स्रोतों का एक साथ तलोच्छेदन करते हुए केवल तकनीकों और उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के संयुक्तीकरण की सीमा को ही विकसित करता है।"[13]

ये आकस्मिक या विविक्त टिप्पणियां नहीं है। 1860 के दशक के पूर्व तक मार्क्स यह सोचते थे कि पूंजीवादी कृषि की प्रगति इतनी तीव्र हो जायेगी कि यह उद्योग से आगे निकल जायेगी। लेकिन **पूंजी** लिखने के समय तक, लीबिग और

दूसरे शस्यविज्ञानियों के कार्यों के अध्ययन से उनका दूसरे प्रकार का विश्वास बन गया। *''बड़ी भू-सम्पत्ति''*, जैसाकि उन्होंने पूंजीवादी कृषि पर अपने सबसे महत्वपूर्ण अध्याय (*''पूंजीवादी भूमि किराया की उत्पत्ति''*) के उपसंहार में स्पष्ट किया,

''कृषिगत आबादी को निरन्तर कम से कम करती जाती है और उसे बड़े शहरों में एकत्र निरन्तर बढ़ती औद्योगिक आबादी से टकराव की स्थिति में ला देती है। इसके चलते ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती है, जो जीवन के प्राकृतिक नियमों द्वारा निर्धारित सामाजिक विनिमय की समरसता में एक असंलग्नीय विघटन पैदा कर देती हैं। परिणामतः, भूमि की जस्विता क्षरित हो जाती है, और यह क्षरण वाणिज्य द्वारा एक राज्य विशेष की सीमाओं के पार तक चला जाता है।'' (लीबिग)

इस प्रकार, पूंजीवाद के अन्तर्गत बड़े पैमाने के उद्योग और बड़े पैमाने की कृषि के एक ही परिणाम होते है : दोनों कृषिगत मजदूरों को बर्बाद और ''भूमि की प्राकृतिक शक्ति'' को निःशेष ही करते हैं। *''इतिहास की शिक्षा''*, जैसा कि मार्क्स का कहना था,

''यह है कि पूंजीवादी प्रणाली एक तर्कपरक कृषि के विपरीत कार्य करती है, या यह कि एक तर्कसंगत कृषि पूंजीवादी प्रणाली के साथ असंगत है। (भले ही पूंजीवाद द्वारा कृषि में तकनीकी सुधारों को प्रोत्साहन मिलता है), और यह या तो स्वयं अपने ही श्रम से जीने वाले छोटे कृषकों की कार्यशैली की दरकार रखती है, या साहचर्यबद्ध उत्पादकों के नियंत्रण की।''

मार्क्स के लिए *''चिरन्तन सामुदायिक सम्पत्ति का तर्कपरक संवर्धन मानव-जाति के जीवन और उत्तरवर्ती पीढ़ियों की श्रृंखला के पुनरुत्पादन की एक अनिवार्य शर्त''* था।[14]

मार्क्स और एंगेल्स ने पारिस्थितिकीय सीमाओं के अपने विमर्श को भूमि के मुद्दे तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि वनों, नदियों, और नालों, अपशेष के विसर्जन, वायु की गुणवत्ता, पर्यावरणीय विष-द्रव्यों आदि के सम्बन्ध में सम्पोषणीयता के ढेरों दूसरे मुद्दों की भी छानबीन की। जैसाकि **मार्क्स** ने लिखा है, *''आमतौर पर संस्कृति और उद्योग का विकास वनों का हमेशा से इतना अधिक और्जिक विनाश करता आया है कि उनके संरक्षण और पुनर्स्थापन के लिए इसके द्वारा की जाने वाली प्रत्येक प्रतिलोमी कार्यवाही ऊंट के मुंह में जीरा ही प्रतीत होती है।''* औद्योगिक अपशेष के सन्दर्भ में, उन्होंने *''अपशेष का संरक्षण, अर्थात, उत्पादन के उत्सर्जनों को न्यूनतम स्तर तक कम करने वाली और उत्पादन में आवश्यक सारे कच्चे और गौण पदार्थों की तुरन्त उपयोग करने वाली अर्थव्यवस्था''* की हिमायत की।[15]

मार्क्स और एंगेल्स का कहना था कि पूंजीवाद के अन्तर्गत पारिस्थितिकीय विनाश का प्रमुख कारण शहर और देहात का आत्यान्तिक अन्तर्विरोध है, जो पूंजीवादी संगठन की एक अभिलाक्षणिकता के तौर पर, उसकी व्यवस्था की उतनी ही मूलभूत विशेषता है जितना कि पूंजीपति और मजदूर के बीच का विभाजन। **एंगेल्स** ने लिखा, *''जब कोई यह देखता है कि कैसे यहां सिर्फ लन्दन में ही प्रतिदिन भारी रकमें खर्च करके इतनी अधिक खाद समुद्र में बहा दी जाती है कि उतनी पूरे सैक्सनी के राजतंत्र में भी नहीं पैदा होती, और कि पूरे लन्दन को विषाक्त करने से इस खाद को रोकने के लिए किमन वृहदाकार संरचनाओं की आवश्यकता होगी, तब शहर और देहात के अन्तरविरोध को समाप्त कर देने वाली यूटोपिया के लिए एक उल्लेखनीय व्यावहारिक आधार मिल जाता है।''*[16]

ऐसी पारिस्थितिकीय अन्तर्दृष्टियां जो उन्नीसवीं सदी के चिन्तकों के बीच सर्वथा अप्रचलित ही थीं, पूरी तरह से मार्क्स और एंगेल्स द्वारा पहले ही से अभिचिन्हित, इस अनिवार्य सच्चाई से निःसृत हुई है कि किसी भी भावी समाज में प्रकृति के साथ मानवीय सम्बन्ध के केन्द्र में सम्पोषणीयता का होना आवश्यक है।

अतः टेड बेण्टन की भांति यह दलील देना गलत है कि **मार्क्स** और **एंगेल्स** ने *''पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के उन पक्षों को बरकरार रखा और गहराई प्रदान की जो पूंजीवादी संचयन की प्राकृतिक सीमाओं की धारणा में थे''* निश्चय ही उन्होंने पृथ्वी की निरपेक्ष प्राकृतिक सीमाओं के बारे में कुछ नहीं कहा। इसी को दृष्टिगत रखकर तो, जैसा कि बेण्टन ने उल्लेख किया है, कुछ समीक्षकों ने मार्क्स के विश्लेषण को **माल्थस** के उस विश्लेषण की तुलना में, पारिस्थितिकीय दृष्टि से घटिया कहा है जिसमें खाद्य आपूर्ति के सम्बन्ध में जनसंख्या वृद्धि को रेखांकित किया गया है (हालांकि माल्थस ने ऐसा किसी पारिस्थितिकी या निर्वाह क्षमता के परिप्रेक्ष्य में नहीं, बल्कि निर्वाहयोग्य मजदूरी स्तरों का औचित्य प्रतिपादन करने और इंग्लैण्ड के निर्धन कानूनों के विघटन के लिए किया है)। फिर भी, मार्क्स और एंगेल्स उत्पादन की प्राकृतिक दशाओं पर अपने द्वारा दिये गये जोर की मात्रा और इस तथ्य की स्वीकृति में अनुपम थे कि एक सम्पोषणीय अर्थव्यवस्था भूमण्डलीय आधार पर प्रकृति के साथ एक सम्पोषणीय सम्बन्ध की अपेक्षा करती है। इस अर्थ में प्राकृतिक सीमाएं उनकी दलील में ही अनुस्यूत है।

जहां तक अन्य प्राकृतिक सीमाओं, जनसंख्या वृद्धि की सीमाओं का सवाल है, मार्क्स और एंगेल्स का विश्वास था कि वे जिस सीमा तक मौजूद रहती हैं उस सीमा तक वे केवल समाजवाद की परिस्थिति को ही और सुदृढ़ता प्रदान करती हैं। जैसाकि एंगेल्स ने राजनीतिक अर्थशास्त्र के अपने प्रथम निबन्ध में ही दर्शाया था, *''यदि माल्थस पूरी तरह से सही भी होते''* (जनसंख्या और खाद्य आपूर्ति के बीच सम्बन्ध के मामले में), तो भी इसकी एकमात्र तर्क निष्पत्ति एक ''सामाजिक रूपान्तरण'' के लिए ही होती : एक ऐसे समाज की रचना के लिए जिसमें मनुष्यों का ''उत्पादन और विनाश'' महज ''मांग पर'' निर्भर एक पण्य सम्बन्ध नहीं रह जाता। वस्तुतः न तो मार्क्स और न ही एंगेल्स यह विश्वास करते थे कि माल्थस ''पूरी तरह सही'' थे। माल्थस का यह प्राक्कथन कि जनसंख्या अपनी अनमनीय प्रकृति और कृषि योग्य भूमि की सीमित आपूर्ति के कारण खाद्य आपूर्ति का सीमातिक्रमण कर जायेगी, मार्क्स और एंगेल्स की समझ से वाणिज्यिक, कृषिगत और औद्योगिक क्रान्तियों द्वारा उन्मुक्त पूंजीवादी कृषि की गत्यात्मकता का न्यूनप्राक्कलन था। विडम्बनास्वरूप, मुख्यतः इसी कारण माल्थस के प्राक्कलन धराशायी हो गये तथा अकाल का जो युग पुरातन चक्र (जिसे **फर्नाण्ड ब्राउडेल** ने *''जैवकीय प्राचीन व्यवस्था''* कहा है) अठारहवीं सदी के अन्त में शुरू हुआ था, मानव इतिहास में पहली बार कालातीत बना दिया गया, जब कि जनसंख्या माल्थस के समय से बढ़कर उस बिन्दु पर जा पहुंची है जहां अब यह अतिशय जनसंख्या इस समूचे ग्रह की परिस्थितिकी के लिए ही एक खतरा उपस्थित कर रही है। फिर तो यह विश्वास करने का तर्क कि आज कृषि अब भी निरन्तर बढ़ती जा रही जनसंख्या की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने में उत्तरोत्तर अक्षम होती जा रही है, स्वयं भूमि को ही हड़पती जा रही पूंजीवादी कृषि की असम्पोषणीयता के बारे में मार्क्स द्वारा किये गये विश्लेषण से ही अधिक सम्बन्धित है, अपेक्षाकृत माल्थस की (रिकार्डो का अनुसरण करने वाली) कृषि की ह्रासमान सीमान्त उत्पादकता की अमूर्त धारणा से जिसके अनुसार अधिकाधिक सीमान्त कृषि के अन्तर्गत समाहित होती जाती है।[17]

इसी तरह, समाजवादी पारिस्थितिकीविद **ज्यापाल देलेज** के शब्दों में **मार्क्स** के मूल्य सिद्धान्त में *''प्राकृतिक संसाधनों के लिए कोई आन्तरिक मूल्य नहीं''* सम्मिलित किये जाने के लिए की जाने वाली उनकी आलोचना भी कम त्रुटिपूर्ण नहीं है। मार्क्स के लिए मूल्य का नियम पूंजीवादी समाज की एक ऐतिहासिक विशिष्टता था। मूल्य सम्बन्धों मार्क्स की टिप्पणियां पूंजीवाद के समर्थन (और आन्तरिक मूल्य से इंकार) का

उतना संकेत नहीं देतीं, जितना कि ये मूल्य सम्बन्ध स्वयं इस पूंजीवादी व्यवस्था के समर्थन (और एक अनियोजित समाज के परिप्रेक्ष्य से इंकार) का संकेत देते हैं। मार्क्स के सिद्धान्त में यह अन्तर्निहित बात है कि पूंजीवादी मूल्य सिद्धान्त प्रकृति को एक ''मुफ्त'' पूंजी मानता है। लेकिन यह मार्क्स की इस बात से कतई संगत नहीं है कि भूमि और उर्वरता को लूटा जा चुका है -- या, दूसरे शब्दों में यह कि सम्पोषणीयता की दशाएं जिनके लिए प्रकृति का पुनरुत्पादन किया जाना अनिवार्य है, इस व्यवस्था द्वारा एकदम छिन्न-भिन्न कर दी गयी है।[18]

मार्क्स के लिए भौतिक सम्पदा की अवधारणा (जिसे उपयोग मूल्य के अर्थ में समझा जाता है) पूंजीवाद (विनिमय मूल्य की दुनिया) के अन्तर्गत मूल्य सृजन में विशिष्टतः भिन्न है। उन्होंने लिखा कि *''श्रम ही भौतिक सम्पदा का, श्रम द्वारा उत्पादित उपयोग मूल्यों का, एकमात्र स्रोत नहीं है''*। जैसा कि **विलियम पेट्टी** इसे स्पष्ट करते है, *''श्रम उसका पिता और धरती उसकी मां है।''* यह तो पूंजीवाद का अन्तरविरोध है कि वह विनिमय मूल्य (मुनाफा) की फिराक में रहता है, जबकि उन गुणात्मक दशाओं को नजरअंदाज कर देता है जो प्राकृतिक पर्यावरण और प्रकृति की उत्पादकता समेत अपने व्यापकतर दायरे में उपयोग मूल्य और सम्पदा के साथ साहचर्यबद्ध होती हैं। लगता है, मार्क्स इस बुनियादी पारिस्थितिकीय सिद्धान्त को साफतौर पर समझ चुके थे कि *''कुछ नहीं से कुछ नहीं पैदा होता''*, जिसे हाल के वर्षों में **बेरी कॉमनर** आदि ने खूब प्रचारित किया है। जैसाकि स्वयं मार्क्स ने ही लिखा,

''ल्यूक्रेटियस का कथन स्वतः प्रमाण हैः ''nill posse creari de nihilo'', कुछ से कुछ नहीं पैदा हो सकता। मूल्य का सृजन श्रमशक्ति का श्रम में रूपान्तरण है। श्रम शक्ति स्वयं में ऊर्जा है जो पोषक पदार्थ के जरिये मानव शरीर में हस्तान्तरित होती है।[19]

हम मार्क्स और एंगेल्स के पारिस्थितिकीय चिन्तन के ऐतिहासिक महत्व को पूरी तरह समझ सकते हैं, यदि हम उनके विचारों की तुलना उस महान पर्यावरणवादी **जार्ज पर्किन्स मार्श** के विचारों से करें, जो उन्नीसवीं सदी के महानतम पारिस्थितिकीविद, और (**लेविस मम्फोर्ड** के शब्दों में) *''संरक्षण आन्दोलन के प्रेरणास्रोत''* के रूप में सुविख्यात हैं। अपनी क्लासिकीय कृति, **मैन ऐण्ड नेचर** (1864) में मार्श ने लिखाः

''एशिया माइनर में, उत्तरी अफ्रीका में, यूनान में और अल्पाइन यूरोप में भी ऐसे भाग हैं जहां मनुष्य के क्रियाकलापों ने धरती की सतह को लगभग पूरी तरह वैसा ही उजाड़ बना दिया है जैसी चांद की सतह, और भले ही वे कभी हरे भरे जंगलों, हरे-भरे चरागाहों और उर्वर घास के मैदानों के लिए जाने जाते रहे हैं, लेकिन अब तो वे इतने बर्बाद हो चुके हैं कि मनुष्य द्वारा उनका उद्धार ही सम्भव नहीं है... । धरती तेजी से अपने सर्वश्रेष्ठ निवासियों के ही निवास के लिए अनुपयुक्त होती जा रही है, तथा एक ऐसे ही दूसरे युग के मानव अपराध और अदूरदर्शितापूर्ण अपव्यय.... . इसे निःशेष हो चुकी उत्पादकता, विध्वस्त सतह, जलवायु सम्बन्धी विषमता आदि की ऐसी दशा में परिवर्तित कर सकते हैं कि चरम अपभ्रष्टता, बर्बरता और कदाचित मानव-जाति के ही विलुप्त हो जाने का खतरा पैदा हो जाये।[20]

मार्श के इस कथन की तुलना दीर्घकालिक पारिस्थितिकीय विकास से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित उस व्याख्या से की जा सकती है जिसे **एंगेल्स** ने, 1876 में लिखे अपने निबन्ध, ''**वानर से मनुष्य बनने में श्रम की भूमिका**'' में प्रस्तुत किया :

''प्रकृति पर हमारी मानवीय विजय को लेकर हमें किसी भी तरह से अपनी तारीफ नहीं करनी चाहिए। कारण कि ऐसी हर विजय हमसे बदला लेती है..। मेसोपोटामिया, यूनान, एशिया माइनर और अन्य कहीं भी जिन लोगों ने कृषियोग्य भूमि प्राप्त करने के लिए वनों को नष्ट किया, उन लोगों ने कभी नहीं सोचा कि वे वनों के साथ ही नमी के संचय केन्द्रों और जलाशयों को भी नष्ट करके इन देशों की वर्तमान विध्वस्त दशा की ही नींव रख रहे थे। जब आल्पस के इतालवियों ने दक्षिणी पहाड़ी ढालों पर के उन चीड़-वनों का पूरी तरह सफाया कर दिया, जो कि उत्तरी ढालों पर इतनी सतर्कता के साथ बचाकर रखे गये थे, तब उन्हें यह आभास ही नहीं था कि ऐसा करके वे अपने ही क्षेत्र के दुग्ध-उद्योग की जड़ें काट रहे थे...। इस प्रत्येक कदम पर हमें यही याद आता है कि हम किसी भी तरह प्रकृति के ऊपर उस प्रकार शासन नहीं करते, जिस प्रकार एक विजेता विदेशी जनता पर करता है, हम किसी भी तरह से प्रकृति से बहार अवस्थित नहीं होते बल्कि हम मांस-मज्जा, रक्त और मस्तिष्क से प्रकृति के साथ नाभिनालबद्ध हैं, हम उसी के भीतर जीते हैं, और कि इस पर हमारा सारा प्रभुत्व वस्तुतः इसी बात में है कि हमें ही और प्राणियों की अपेक्षा यह गुण प्राप्त है कि हम उसके नियमों को जानने में सक्षम हों, और उन्हें सही-सही लागू करें।''[21]

इन अवतरणों की ध्यानपूर्वक जांच-पड़ताल करने पर यह तथ्य प्रकट हो जाता है कि एंगेल्स और मार्श द्वारा पारिस्थितिकीय विनाश को समझने के लिए अपनाये गये पहुंच प्रयास के तरीकों में काफी समानता है। दोनों ने सभ्यताओं के सामने उपस्थित हो चुकी पारिस्थितिकीय विपदाओं की चर्चा की है। दोनों ही इसे, प्राथमिक तौर पर, सम्पोषणीयता के सवाल के रूप में देखते हैं। मार्श के शब्दों में, प्रकृति के शोषण में अदूरदर्शिता खत्म होनी चाहिए, जबकि **एंगेल्स** इस तथ्य पर जोर देते हैं कि हम *''प्रकृति के साथ नाभिनालबद्ध हैं''* और हमें *''इसके नियमों को सही-सही लागू''* करना चाहिए। दोनों ही एक व्यापक मानव-केन्द्रित परिप्रेक्ष्य इस अर्थ में अख्तियार कर लेते हैं कि वे मानवता के भाग्य के ऐसे विनाशकारी परिणामों को रेखांकित करते हैं।

यहां मूल बात यह नहीं है है कि मार्क्स और एंगेल्स अकेले-अकेले या सम्मिलित रूप से, पारिस्थितिकीय विज्ञान की अपनी समझदारी में, मार्श के बराबर थे; निश्चय ही ऐसा नहीं था। फिर भी उनका दृष्टिकोण किसी भी तरह से उनके समय के इस महानतम (और आज भी प्रतिष्ठित) पारिस्थितिकीविद के दृष्टिकोण के साथ असंगत नहीं था। इसके अतिरिक्त यह मात्र संयोग नहीं है कि इस ग्रह के पारिस्थितिकीय विध्वंस पर बीसवीं के पहले लिखा गया अग्रणी साहित्य, **मैन एण्ड नेचर** मार्क्स की **पूंजी** (1867) के प्रथम खण्ड के प्रकाशन के तीन वर्ष पहले प्रकाशित हो चुका था। दोनों की प्रतिक्रियाएं (हालांकि मार्श की प्रतिक्रिया सचेत कम ही थी) औद्योगिक क्रान्ति के परिणामों पर ही थीं। मार्क्स के कृतित्व ने कामगार-वर्ग के विद्रोहों को प्रोत्साहित किया, जबकि मार्श के विचारों ने प्रकृति के पक्ष में व्यापक-संघर्ष को बढ़ावा दिया। इनके कार्यों द्वारा प्रस्तुत विश्लेषणों को संयुक्त करके ही हम मशीनी पूंजीवाद की एक पूर्ण पारिस्थितिकीय आलोचना जैसी कोई बात कर सकते है। इसका कारण वस्तुतः यह है कि भले ही मार्श अपने समय के अग्रणी पारिस्थितिकीविद थे, लेकिन यह मार्क्स और एंगेल्स ही थे जिन्होंने उन्नीसवी सदी के ऐसे पारिस्थितिकीय विनाश के भीतर निहित ऐतिहासिक दशाओं को सर्वाधिक सही ढंग से समझा।

निस्सन्देह, भूमण्डलीय पर्यावरणात्मक संकट की जड़ें चूंकि प्रकृति में नहीं, बल्कि समाज में है, इसीलि मार्क्स और एंगेल्स से मार्श की अपेक्षा, इस बारे में कहीं अधिक जानकारी मिल सकती है कि पारिस्थितिकीय समस्या को सम्बोधित करने के लिए क्या करना आवश्यक है।

आधुनिक समाज के बारे में मार्क्स और एंगेल्स की समझदारी की कुंजी पूंजीवादी संचय की उनकी आलोचना में निहित है। उनका मानना था कि पूंजीवाद आर्थिक और राजनीतिक रूप से असम्पोषणीय है। अन्ततोगत्वा यह उन क्रान्तिकारी शक्तियों को ही जन्म देगा जो इसे उखाड़ फेंकेंगी। पूंजीवादी संचय की उसी आलोचना में उन्होंने

यह निष्कर्ष निकाला -- जिसकी शुरुआत उनकी अत्यन्त आरम्भिक रचनाओं में ही हो चुकी थी -- कि इस व्यवस्था में प्रकृति के साथ एक सम्पोषणीय सम्बन्ध का अभाव है। फिर भी उनके विश्लेषण में यह समस्या अभी इतनी विकट नहीं बनी थी कि यह पूंजीवाद के भविष्य को प्रभावित करती (जिसके बारे में उनकी सोच थी कि यह अपने आर्थिक और राजनीतिक अन्तरविरोधों के फलस्वरूप अपनी ही स्वाभाविक मौत से मर जायेगा)। यदि पारिस्थितिकीय सम्पोषणीयता का मुद्दा उनकी रचनाओं में जब तब उठा भी तो इसका सरोकार पूंजीवाद के अन्त की दशाओं की अपेक्षा, स्वतंत्रतापूर्वक साहचर्यबद्ध उत्पादकों के भावी समाज की आवश्यकताओं को समझने से ही अधिक था। मार्क्स ने स्पष्टतः स्वीकार किया कि किसी भी भावी समाज की स्थिरता प्राकृतिक जगत के साथ एक पूर्णतः नये और अपेक्षाकृत अधिक सन्तुलित सम्बन्ध पर ही निर्भर करेगी।

आज के आमूल परिवर्तनवादी पारिस्थितिकीविद चीजों को भिन्न प्रकार से केवल इसी अर्थ में देखते हैं जैसा कि अब समझा जा रहा है कि भूमण्डलीय पारिस्थितिकीय विनाश पूंजीवाद के अन्त में एक केन्द्रीय भूमिका अदा करेगा। मानव इतिहास में पहली बार हम भूमण्डलीय पैमाने पर पारिस्थितिकीय उत्तरजीविता की समस्या का सामना कर रहे हैं -- जिसके बारे में उन्नीसवीं सदी के चिन्तकों में से, मार्क्स और एंगेल्स को छोड़कर, शायद ही किसी ने सोचा था (अपवादस्वरूप मार्श को छोड़कर)। इतना ही नहीं हमारे सामने उपस्थित जटिल समस्याओं को समझने की शुरुआत भी हम तबतक नहीं कर सकते, जबतक कि उनके प्रति हम वही पहुंच न अख्तियार करें जिस मार्क्स और एंगेल्स ने पूंजीवादी संचय की आलोचना के सम्बन्ध में अख्तियार किया था। यह एक गलती ही होगी कि हम पारिस्थितिकीय समस्या का समाधान किसी अमूर्त और निराकार "उत्तराधुनिकता" के नाम पर "आधुनिकता" के अस्वीकार में देखें और इसी के साथ चिन्तन की उन प्रणालियों को ही अस्वीकार कर दें जो पूंजीवाद की एक सुव्यवस्थित आलोचना प्रस्तुत करती है। इसके बजाय, हमें निश्चय ही यह स्वीकार करना चाहिए कि आधुनिकता - सर्वोपरि तौर पर पूंजीवादी आधुनिकता -- को कसकर पकड़ने और उसे रूपान्तरित करने की आवश्यकता है। अन्यथा जीव-जगत का सर्वनाश निश्चित है। चूंकि हम यह जानते हैं, इसलिए मानवता की विराट संख्या के पास खोने के लिए अपनी बेड़ियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पर बचाने के लिए एक ग्रह है।

सन्दर्भ संकेत

1. जहीर बाबर, "द वलनेरेबल प्लैनेट" (रिव्यू), कण्टेपेरी सोशिओलॉजी (जनवरी 1995) : 82, मर्चेण्ट, इकोलजि, (एटलाण्टिक हाइलैण्डस, न्यू जर्सी : ह्यूमैनिटीज प्रेस, 1994), पृ. 2

2. "मार्क्सिज़्म एण्ड नेचुरल लिमिट्स", न्यू लेफ्ट रिव्यू 178 (नवम्बर-दिसम्बर 1989): 82, रेनर ग्रुण्डमान, मार्क्सिज़्म एण्ड इकॉलजि (न्यूयार्क : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस) पृ. 52, और "द इकॉलाजिकल चैलेन्ज टू मार्क्सिज़्म," न्यू लेफ्ट रिव्यू 187 (मई-जून 1991) : 120; फर्किस, नेचर टेक्नॉलजि एण्ड सोसायटी (न्यूयार्क : न्यूयार्क यूनिवर्सिटी प्रेस, 1993), पृ. 108, क्लार्क, "मार्क्सस इनॉर्गेनिक बॉडी", एनवाइरनमेण्टल एथिक्स 11, नं. 3 (फाल 1989): 258

3. सिकोर्स्की, मॉडर्निटी एण्ड टेक्नॉलजि (टस्केलूसा : यूनिवर्सिटी आफ अल्बामा प्रेस, 1993), पृ. 138

4. लेनार्ड पी. वेसेल, जूनि., प्रोमिथियस बाउण्ड : द मिथिक स्ट्रक्चर आफ कार्ल मार्क्सस साइण्टिफिक थिंकिंग (बेटॅन रोगः लूसियाना स्टेट यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984), पृ. 3, लिण्डा एम. लेविस, द प्रोमिथियन पॉलिटिक्स आफ मिल्टन ब्लैक ऐण्ड शेली (कोलम्बिया, मिसौरी : यूनिवर्सिटी आफ मिसौरी प्रेस, 1992), पृ. 2

5. पेजेण्ट सिटिजन एण्ड स्लेव (लन्दन : वर्सो, 1988), पृ. 141-44

6. मार्क्यूस, इरोस ऐण्ड सिविलाइज़ेशन (न्यूयार्क : विण्टेज 1962), पृ. 146-49

7. बरमैन, आल दैट इज सालिड मेल्ट्स इनटु एअर (न्यूयार्क : साइमन शूस्टर, 1982), पृ. 126-29, मेदवेदेव, लेट हिस्ट्री जज (न्यूयार्क : कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, 1989), पृ. 852-59

8. "ग्रीनिंग प्रोमिथियस", इन पीटर ओस्बार्न, सम्पा. सोशलिज्म ऐण्ड द लिमिट्स आफ लिबरलिज्म (न्यूयार्क : वर्सो, 1991); लीस, द डॉमिनेशन आफ नेचर (बोस्टन : बेकन प्रेस, 1974), पृ. 85, 198

9. मार्क्स, अर्ली राइटिंग्स (न्यूयार्क : विण्टेज, 1975), पृ. 328

10. फ्रेडरिक एंगेल्स, "आउटलाइन्स आफ ए क्रिटीक आफ पोलिटिकल इकॉनमी", इन मार्क्स, द इकॉनमिक एण्ड फिलासाफिकल मैन्युस्क्रिप्ट्स आफ 1884 (न्यूयार्क 'इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, 1964), पृ. 210; मार्क्स, अर्ली राइटिंग्स, पृ. 377-79; मार्क्स-एंगेल्स, द कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो (न्यूयार्क : मंथली रिव्यू प्रेस, 1964), पृ. 5-6; मार्क्स, कैपिटल, खण्ड 111 (न्यूयार्क : इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, 1967), पृ. 820; एरिक फ्राम, बियाण्ड द चेन्स आफ इल्यूजन (न्यूयार्क : साइमन एण्ड शूस्टर, 1962), पृ. 36-37

11. मार्क्स, कैपिटल, खण्ड 111, पृ. 776

12. कैपिटल, खण्ड 111, पृ. 617 N. वर्ल्ड कमीशन आन एनवाइरनमेण्ट ऐण्ड डवलपमेण्ट (द बुण्टलैण्ड कमीशन रिपोर्ट), ऑवर कॉमन फ्यूचर (आक्सफोर्ड : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1987), पृ. 43

13. मार्क्स, कैपिटल, खण्ड 1, पृ. 637-38

14. मार्क्स, कैपिटल, खण्ड 111, पृ. 121, 812-13, रोनाल्ड मीक, "इण्ट्रोडक्शन", इन मार्क्स एण्ड एंगेल्स, माल्थस (न्यूयार्क : इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, 1954), पृ. 13-14, 14-15, पूंजीवादी कृषि की आलोचना में लीबिग और मार्क्स के प्रखर विश्लेषण के लिए देखें कोजो मायुमी का "टेम्पोररि इमैन्सिपेशन फ्राम लैण्ड : फ्राम द इण्डास्ट्रियल रिवोल्यूशन टु द प्रेजेण्ट टाइम", ईकालाजिकल इकानामिक्स 4, नं. 1 (अक्टूबर 1991), पृ. 35-56

15. मार्क्स, कैपिटल खण्ड 3, पृ. 1.1-03, मार्क्स, कैपिटल, खण्ड 11 (न्यूयार्क : इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, 1867), पृ. 244

16. एंगेल्स, द हाउसिंग क्वेश्चन (मास्को : प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1975, पृ. 92

17. बेण्टन, "मार्क्सिज्म ऐण्ड नेचुरल लिमिटस", न्यू लेफ्ट रिव्यू 178 (नवम्बर-दिसम्बर 1989): 64; एंगेल्स, "आउटलाइन्स आफ ए क्रिटिक आफ पालिटिकल इकानमि", पृ. 221, मार्क्स, कैपिटल, खण्ड१, पृ. 505, फर्नाण्ड ब्राउडेल, द स्ट्रक्चर्स आफ एवरी डे लाइफ (न्यूयार्क : हार्पर ऐण्ड रो, 1979), पृ. 70

18. ज्यां-पाल देलेज, "इको मार्क्सिस्ट क्रिटीक आफ पोलिटिकल इकानमि" इन मार्टिन ओ' कोनर, सम्पा., इज कैपिटलिज्म सस्टेनेबल? (न्यूयार्क : गिलफोर्ड, 1994), पृ. 48, मार्क्स, कैपिटल, खण्ड 3, पृ. 745, खण्ड 1, पृ. 510. एक इसी तरह की व्याख्या, पाल बर्केट की आगे आने वाली कृति में विकसित की गयी है।

19. कैपिटल, खण्ड 1 (न्यूयार्क : इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, 1967), पृ. 43, 215n, जहां कॉमनर अनौपचारिक पारिस्थितिकीय नियम को इस रूप में व्यक्त करते हैं कि "फ्री लंच जैसी कोई चीज नहीं होती" वहीं दूसरे पारिस्थितिकीविद् इसकी यह अन्विति करते हैं कि "कुछ नहीं से कुछ नहीं पैदा होता।" देखें फास्टर की कृति, द वलनेरेबल प्लैनेट (न्यूयार्क : मंथली रिव्यू प्रेस, 1994), पृ. 118-20

20. मार्श, मैन ऐण्ड नेचर (कैम्ब्रिज, मेसाच्यूसेट्स : हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1965), पृ. 42-43, मम्फोर्ड, द ब्राउन डेकेड्स (न्यूयार्क : डोवर, 1971), पृ. 35

21. एंगेल्स, डायलेक्टिक्स आफ नेचर (न्यूयार्क : इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, 1940), पृ. 291-92

(स्रोत: मंथली रिव्यू, जुलाई-अगस्त 1995, अंक 4, संख्या 3, पृ. 110-123)

अनुवाद : **विश्वनाथ मिश्र**

क्रान्ति का विज्ञान

लेनी वुल्फ

अन्यायी व्यवस्था के विरुद्ध सुलगता आक्रोश और इसे बदल डालने की चाहत क्रान्ति करने के लिए पर्याप्त नहीं है। लड़ने के प्रति प्रतिबद्धता ही काफी नहीं है, बल्कि सचेतन ढंग से लड़ना सीखने की; क्रान्ति के विज्ञान को समझने, उसमें महारत हासिल करने और उसे सही ढंग से लागू करना सीखने की जद्दोजहद जरूरी है।

समाज का विकास कोई बेतरतीब, अनजानी या बेकाबू चीज नहीं है। प्रकृति की तरह, इसकी गति के भी सुनिश्चित नियम हैं जिन्हें समझा जा सकता है। समाज अपनेआप में प्रकृति का ही एक अत्यन्त संगठित रूप है। इसे संचालित करने वाले आन्तरिक नियमों को समझने के बाद जनसाधारण उन्हें लागू करके दुनिया को बदल सकते हैं।

जैसा कि लेनिन ने कहा था, ''क्रान्तिकारी सिद्धान्त के बिना कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन नहीं हो सकता।''

लेनी वुल्फ की यह पुस्तिका 'क्रान्ति का विज्ञान' इसी नाम की एक महत्वपूर्ण पुस्तक के परिचय के रूप में लिखे गये लेखों का संकलन है। इसके दो लेख हम यहां प्रकाशित कर रहे हैं। तीसरा लेख 'सर्वहारा अधिनायकत्व : मार्क्सवाद की कसौटी' हम अगले अंक में प्रकाशित करेंगे। - सम्पादक

दुनिया को बदलने का दर्शन

''वर्ग-समाज में हर कोई किसी न किसी वर्ग विशेष का ही सदस्य होता है, और हर प्रकार का चिन्तन बिना किसी अपवाद के किसी न किसी वर्ग की ही छाया लिये होता है।'' यह बुनियाद सच्चाई, जिसे **माओ त्से-तुङ** ने **''व्यवहार के बारे में''** नामक अपने निबन्ध में पूरी प्रखरता से उद्घाटित किया था, दर्शन पर खासतौर से लागू होती है।

भिन्न-भिन्न वर्ग हमेशा ही अपने-अपने वर्ग-हितों को प्रतिबिम्बित करने के लिए भिन्न-भिन्न दर्शनों को बढ़ावा देते रहते है। वस्तुतः दर्शन दुनिया को समझने के घनीभूत और सुसंगत तौर-तरीके होते हैं। उन्हें समझना न तो असम्भव है और न ही वे व्यर्थ की कवायदें हैं बल्कि वे तो वर्ग-संघर्ष की एक महत्वपूर्ण रणस्थली ही है। एक सही दर्शन के अभाव में आज के युग में कोई भी क्रांतिकारी आन्दोलन सफलता की मंजिल तक सही सलामत पहुंच पाने की आशा नहीं कर सकता। बल्कि यह वैसे ही दिशाहीन होकर थपेड़े खाता रहेगा जैसे एक कुतुबनुमा के बगैर अंधड़-तूफान में पड़ा जहाज।

आज पूंजीपति वर्ग हर जगह ऐसे ही दार्शनिक दृष्टिकोण को बढ़ावा दे रहा है जो पूंजीवाद की सेवा करे, और उसी के सिद्धान्तों को शाश्वत कहकर पेश करे। उदाहरण के लिए, अमेरिकी शासक वर्ग व्यवहारवाद को बढ़ावा दे रहा है। मार्क्सवाद के विरोध में रचित यह एक ऐसा दर्शन है जो दुनिया के सारतत्व को समझने की मानवीय क्षमता से ही इन्कार करता है, और किसी विचार की सच्चाई को ऐसे रूप में पेश करता है कि यह पहले से चली आ रही व्यवस्था, यानी पूंजीवाद, के साथ, बुर्जुआ वर्ग को हर हालत में चिपके रहने और तालमेल बनाये रखने में सक्षम बनाता रहे।

यह और अन्य बुर्जुआ दर्शन पूंजीपति वर्ग की सेवा केवल इनका अध्ययन करने वालों को सीधे प्रभावित करके ही नहीं करते, बल्कि वे नीचे की ओर रिस-रिस कर व्यापक जनसमुदायों के चिन्तन और क्रियाकलापों को प्रभावित करके भी करते हैं, भले ही वे इस प्रभाव के प्रति सचेत हों न हों। इस दार्शनिक रणभूमि में सर्वहारा का हथियार द्वंद्वात्मक भौतिकवाद है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद सर्वहारा को समाज में उसकी सही स्थिति का ज्ञान कराता है और उसे ऐसे तरीकों और दृष्टिकोण से लैस करता है जो उसकी इस स्थिति को बदलने के लिए आवश्यक होते हैं।

सारे दर्शनों में एकमात्र द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ही एक ऐसा दर्शन है जो अपनी वर्ग-अवस्थिति को केवल स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि गर्व के साथ उसकी हिमायत करता है, और इसी के साथ इसके सार्वभौमिक सत्य होने की खूबी पर जोर भी देता है। इसके विपरीत, अन्य सभी दर्शन अन्ततः शोषणकारी अल्पसंख्यक वर्गों की ही सेवा करते हैं, लेकिन शोषण के प्रति समर्पित अपनी इस सेवा को

इस दार्शनिक मिथक में ढंकने की कोशिश करते हैं कि यह ''वर्गों से ऊपर'' हैं -- ऐसा करके वे समाज के वर्गों में विभाजन की लिपाई-पुताई कर डालते हैं। चूंकि द्वंद्वात्मक, भौतिकवाद सर्वहारा का प्रतिनिधित्व करता है जो शोषण को समाप्त कर डालने की अपेक्षा करता है, इसलिए इसे झूठ बोलने या समाज के वर्गों में विभाजन पर पर्दा डालने में कोई दिलचस्पी नहीं होती। इस प्रकार, मार्क्सवादी दर्शन जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, उसकी प्रकृति के कारण ही, यह सत्य और पक्षधर दोनों ही है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद एक और सारभूत बात में अन्य से भिन्न है -- यह खुलेआम स्वीकार करता है कि लोगों को दर्शन का अध्ययन करने और दुनिया को समझने की जरूरत सिर्फ इसीलिए है कि उसे बदलना है। आज इसका एकमात्र अर्ध पूंजीवाद को उखाड़ फेंकने के लिए क्रांति करना ही हो सकता है। जैसा कि **मार्क्स** ने लिखा था, ''दार्शनिकों ने दुनिया की केवल, तरह-तरह से *व्याख्या* भर की है, लेकिन असली सवाल तो उसे *बदलने* का है।''

इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा

मार्क्स और **एंगेल्स** अपने छात्र-जीवन में ही उस राजनीतिक तूफान में सक्रिय थे जो 1830 और 40 के दशकों में पूरे यूरोप में चल रहा था। एक प्रगतिशील रास्ते की तलाश में उन्होंने दर्शन, विज्ञान और इतिहास का अध्ययन किया तथा काफी संघर्ष और छान-बीन के जरिये द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का विकास किया। और इसे तत्काल ही उन्होंने क्रांतिकारी संघर्ष को आगे बढ़ाने की गरज से मानव-समाज पर लागू करना शुरू कर दिया।

मार्क्स और एंगेल्स द्वारा की गयी एक बुनियादी खोज यह थी कि किसी युग की धारणाएं और संस्थाएं उन आर्थिक-सम्बन्धों -- अर्थात समाज के उन वर्ग-सम्बन्धों- से उत्पन्न होती है जिनमें लोग उत्पादन के दौरान परस्पर बंधते हैं। ये सम्बंध अन्ततः उन उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर द्वारा निर्धारित होते हैं, जिन्हें लोग स्वयं नहीं चुनते, बल्कि वे उन्हें पिछली पीढ़ी से विरासत में प्राप्त करते हैं, और आगे उनका विकास करते हैं। इन उत्पादक शक्तियों के अन्तर्गत स्वयं श्रम करने वाले लोग, उनका कौशल और ज्ञान तथा इनके साथ-साथ उत्पादन के उपकरण, तकनोलॉजी, कच्चे माल आदि शामिल हैं। ये उत्पादक शक्तियां समूचे समाज की केवल बुनियाद ही नहीं होतीं, बल्कि ये उसका सबसे क्रांतिकारी तत्व भी होती है। चूंकि लोग हमेशा नयी-नयी तकनीक विकसित करते रहते हैं तथा उत्पादन को उच्च से उच्चतर स्तरों तक बढ़ाते रहते हैं, इसलिए उत्पादक शक्तियां वर्ग-सम्बन्धों (अर्थात आर्थिक आधार) तथा उस आधार पर उत्पन्न होने वाले राजनीतिक और विचारधारात्मक रूपों (या अधिरचना) के नीचे निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं।

ये अन्तरविरोध जो उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों के बीच तथा आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच होते हैं -- वर्ग संघर्ष का रूप ले लेते हैं। प्राचीनतम दासता के समय से इस संघर्ष को चलाते और उसका निपटारा करते हुए ही वर्ग-समाज विकसित होकर आज उस दहलीज पर खड़ा है जहां से वह दासता और वर्ग-विभाजन के सारे रूपों को हमेशा-हमेशा के लिए मिटा सकता है।

सापेक्षिक रूप से तीव्र गति से विकासमान उत्पादक शक्तियां शीघ्र ही उन सम्बन्धों के साथ टकराव में आने लगती हैं जो शुरू-शुरू में पुराने विकास-स्तर की सहायता में उत्पन्न हुई थीं। जिन वर्गों के सम्बन्ध अधिक विकसित हो चुकी उत्पादक शक्तियों के अनुरूप ही अधिक विकसित हो चुके होते हैं, वे उन वर्गों से टकराने लगते हैं जो पुराने सम्बन्धों से बचे होते हैं। यह टकराव अधिरचना में प्रचण्ड संघर्ष उत्पन्न कर देता है, जिसके तहत नया और उदीयमान वर्ग पुरानी अधिरचना को तोड़ डालने और उसके स्थान पर एक ऐसी अधिरचना कायम करने की कोशिश करता है जो उसके अपने आर्थिक आधार की रक्षा और सेवा कर सके।

हम इसे आधुनिक समाज पर भी लागू कर सकते हैं। पूंजीवाद प्रत्येक पिछली व्यवस्था से इस मायने में भिन्न है कि इसमें उत्पादन लोगों द्वारा एक सहकार में किया जाता है, न कि अलग-अलग कार्यरत व्यक्तियों द्वारा। अर्थात इसमें उत्पादक शक्तियां पहली बार मुख्य तौर पर समाजीकृत हो जाती हैं। लेकिन उत्पादन-संबंध अभी भी व्यक्तिगत उत्पादन और स्वामित्व वाले युग से चिपके होते हैं। फैक्टरियों में हजारों मज़दूर इतनी विराट सम्पदा पैदा करते हैं कि 200 या यहां तक कि 100 वर्ष पूर्व कोई इसका सपना भी नहीं देख सकता था -- लेकिन तक भी दिन भर का सम्मिलित उत्पाद बस मुट्ठी भर उन व्यक्तियों द्वारा हथिया लिया जाता है जो न तो कभी उस फैक्टरी को देखे होते हैं और न ही उन लोगों को, जो वहां गुलामों की भांति खटते हैं।

एकतरफ, यह समाजीकृत उत्पादन सर्वहारा द्वारा किया जाता है। और दूसरी तरफ इसका निजी स्वामित्व पूंजीपतियों के हाथों में होता है। यही आज के युग का बुनियादी अन्तरविरोध है। और जबतक सर्वहारा इन समाजीकृत उत्पादक शक्तियों के अनुरूप अधिक विकसित समाजीकृत सम्बंधों से युक्त होकर बुर्जुआ वर्ग और पूंजीवादी सम्बन्धों के सभी अवशेषों का नाश करके इस अन्तरविरोध को हल नहीं कर देता, तब तक दोनों के बीच वर्ग-संघर्ष चलता रहेगा।

इस अन्तरविरोध को हल करने के लिए इस वर्ग-संघर्ष को सर्वहारा क्रांति और फिर सर्वहारा के अधिनायकत्व में परिणत होना अनिवार्य है। लेकिन सर्वहारा अधिनायकत्व इससे भी उच्चतर अवस्था -- साम्यवाद - की दिशा में महज एक संक्रमणकालीन अवस्था भर ही है। सर्वहारा अपनी सत्ता का इस्तेमाल पुराने शोषकों को शिकस्त देने और लगातार उन नये शोषकों को उखाड़ फेंकते रहने के लिए करता है जो उन असमानताओं और पिछड़ेपन के अवशेषों पर आधारित होते हैं जो शोषक वर्गों द्वारा शासित समाजों की अभिलाक्षिणिक विशिष्टताएं हैं। इन संघर्षों को छेड़ने में सर्वहारा के लिए यह अनिवार्य है कि वह इनके साथ ही ''उस जमीन को भी खोद डालें'' जहां से ये नये शोषक पैदा होते हैं।

साम्यवाद -- जो कि सर्वहारा संघर्ष का लक्ष्य है -- मानव-इतिहास में एक सर्वथा नये युग का सूत्रपात करेगा, वस्तुतः, जैसा कि मार्क्स और एंगेल्स ने कहा है, साम्यवाद एक सर्वथा मौलिक रूप में मानव-इतिहास का प्रवर्त्तन करेगा, जिसके लिए मानव-अस्तित्व की पिछली सारी शताब्दियां, समाज केवर्गों में विभाजन के हज़ारों वर्षों समेत, महज एक आदिम इतिहास बनकर रह जायेगी।

इस प्रकार बुर्जुआ वर्ग का पतन और सर्वहारा की विजय समान रूप से अपरिहार्य हैं। यही वह सारभूत सच्चाई है जिसे ऐतिहासिक भौतिकवाद ने उद्घाटित की है, और यही कारण है कि बुर्जुआ वर्ग इससे नफरत और इसका दमन करता है, जबकि सर्वहारा इसकी कामना करता है तथा व्यवहार में इस पर अमल करते हुए इसे और समृद्ध करता है।

भौतिकवाद

ऐतिहासिक भौतिकवाद द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का समाज और इतिहास पर प्रयोगीकरण है। अतः द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और

ऐतिहासिक भौतिकवाद दोनों का सांगोपांग अध्ययन आवश्यक है।

भौतिकवाद का विकास एक विरोधी दार्शनिक शिविर, अखबार के विरुद्ध संघर्ष के दौरान हुआ। भाववाद भौतिक दुनिया को आमतौर पर चेतना की सर्जना के रूप में पेश करता है, और सृष्टि के स्रोत के रूप में किसी न किसी रूप में एक ऐसी परा-प्राकृतिक चेतना की कल्पना करता है जो सर्वज्ञ लेकिन अज्ञेय है। तब इसका मतलब यह हुआ कि सच्चाई को भौतिक दुनिया में नहीं, बल्कि चेतना की दुनिया में ही खोजा जाना चाहिए। और कि मनुष्य के विचार, उसके मूल्य और उसकी "प्रकृति" उससे स्वतंत्र है, और यह भी कि ये ही किसी समाज विशेष के अन्तर्गत एक वर्ग विशेष के सदस्य के रूप में उसके भौतिक अस्तित्व के लिए आधार भी निर्मित करते हैं। और कि ये विचार, मूल्य, "प्रकृति" आदि किसी बाहरी और मानवता एवं मानव-समाज से उच्चतर शक्ति के उत्पाद हैं। यही भाववाद है।

भौतिकवाद भाववाद के ठीक विपरीत है, जो इस मानवता पर आधारित है कि यह दुनिया, यह समूचा ब्रह्माण्ड, और समूचा अस्तित्व केवल पदार्थ के ही भिन्न-भिन्न रूप है, जो किसी अज्ञेय चेतना द्वारा नहीं, बल्कि स्वयं अपने अन्तर्जात भौतिक गुणों से अनुप्राणित हैं। "भौतिकवादी विश्व दृष्टिकोण", जैसाकि एंगेल्स ने लिखा है, "बिना किसी अपवाद के, बस प्रकृति की ही यथातथ्य अवधारणा है"।

चेतना के लिए कच्चा माल इस भौतिक दुनिया में लोगों का अनुभव ही है। सौन्दर्य, सत्य, सदगुण आदि की धारणाएं वर्ग समाज में सामाजिक अनुभव द्वारा संस्कारित होती है। भौतिकवादी इस लोकप्रचलित धारणा के ठीक विपरीत है कि वे सुखवादी या पेटू और जीवन की उच्चतर चीज़ों से विरक्त होते हैं। वस्तुतः मार्क्सवादी भौतिकवादियों के बहुत ऊंचे आदर्श होते हैं - और वे सिर्फ ऊंचे आदर्श ही नहीं रखते बल्कि वे इतिहास की अग्रवर्ती गति के अनुसार इस भौतिक दुनिया को बदलकर उन्हें व्यवहार में चरितार्थ करने के लिए संघर्ष भी करते हैं।

स्वतंत्र इच्छा ?

लेकिन बुर्जुआ वर्ग एतराज उठाता है कि तब स्वतंत्र इच्छा का क्या होगा? वे चीख-पुकार मचाते हैं कि "लोगों के क्रियाकलापों और चिन्तन को वर्ग-सम्बंधों से उत्पन्न मानकर तुम लोग स्वतंत्र चयन और स्वतंत्र इच्छा का हनन करते हो।"

लेकिन इन बुर्जुआ दार्शनिकों द्वारा जिस पवित्र स्वतंत्र चयन और स्वतंत्र इच्छा की दुहाई दी जाती है वह दरअसल बहुत ही सीमित दायरे में मौजूद होती है।

हो सकता है कि एक मजदूर अपने आप को यह कहकर तसल्ली दे ले कि उसने अपने शोषणकारी मालिक के लिए अपने काम का चुनाव स्वतंत्रापूर्वक किया है -- लेकिन वह जिस समाज में पैदा हुआ होता है उसके वर्ग-सम्बंधों के चुनाव में निश्चय ही उसका कोई हाथ नहीं होता। और ये वर्ग-सम्बन्ध ही यह निर्धारित करते हैं कि आप क्या चुनें, जिसके तहत आप हमेशा केवल मालिकों के बीच चुनाव करने के लिए ही स्वतंत्र होते हैं -- और कि जब बेरोजगारी बढ़ने लगती है तो हमें एक और भी आजादी मिल जाती है -- भूखों मरने की आजादी!

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद स्वतंत्रता की मनाही नहीं करता। इसके बजाय, यह बताता है कि स्वतंत्रता की अर्थवत्ता केवल इसकी विपरीतता, अर्थात आवश्यकता के सापेक्ष ही होती है, अर्थात स्वतंत्रता की वास्तविक सीमाएं एक दी गयी परिस्थिति और उसको नियंत्रित करने वाले नियमों तक ही जाती है, और यह भी कि यथार्थ को समझने का कुल मतलब यही है कि उसे बदलने में समर्थ हुआ जाये।

उदाहरण के लिए, सर्वहारा यह चाह सकता है कि वर्गों को रातोंरात खत्म कर दिया जाये, और सत्ता पर कब्जा करके वह राज्य को भी खत्म करना "चुन" सकता है। लेकिन चूंकि बुर्जुआ वर्ग अभी भी मौजूद होता है और क्रांति के बाद भी एक लम्बे समय तक लगातार पैदा होता रहता है, इसलिए ऐसी चाहत पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करके पुनः संगठित हो जाने और फिर से सत्ता हथिया लेने के लिए कार्य कर रही शक्तियों के पक्ष में ही जा सकती है, और तब हमारी यह कल्पनालोकी इच्छा हमें इच्छित परिणाम से ठीक उल्टा ही नतीजा दे देगी। इसीलिये क्रांति के दौरान और उसके बाद भी चलते रहने वाले वर्ग-संघर्ष के नियंत्रणकारी नियमों की समझ हासिल करने के द्वारा और वास्तव में क्रांतिकारी संघर्ष में संलग्न होकर ही उनका पता लगाने तथा उसके अनुभव का लगातार समाहार करने में भौतिकवादी द्वंद्ववाद का इस्तेमाल करके ही कम्युनिस्ट यह समझ पाने में समर्थ हो सके हैं कि जारी वर्ग संघर्ष सर्वहारा अधिनायकत्व की एक संक्रमणकालीन अवधि की मांग करता है जिससे कि आगे चलकर अन्ततः सारे वर्गों और राज्यसत्ता के सारे रूपों के समूल नाश का आधार तैयार किया जा सके। कम्युनिस्ट इसी समझदारी के आधार पर क्रांतिकारी कार्रवाई करते हैं जो कदम-ब-कदम यर्थाथ को बदलती हुई लक्ष्य की दिशा में आगे की ओर बढ़ती है।

माओ ने इस सिद्धान्त को इस रूप में सूत्रित किया कि *"पदार्थ चेतना में और चेतना पदार्थ में रूपान्तरित हो सकती है"*। अर्थात भौतिक दुनिया की हर प्रकार से और सही ढंग से समझ हासिल कर उसका समाहार करके और उस आधार पर सही सिद्धान्त विकसित करके, इन सिद्धान्तों को दुनिया को बदलने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। भौतिकवाद पदार्थ और चेतना के बीच के असली सम्बन्धों का उद्घाटन करता है और ऐसा करके किसी भी दर्शन की चेतना के लिए सबसे बड़ी गुंजाइश पैदा कर देता है।

मार्क्सवाद केवल उन भाववादियों का विरोध ही नहीं करता जो इस बात से इंकार करते हैं कि चेतना पदार्थ से पैदा होती है और जो इस सच्चाई से भी इंकार करते हैं कि विचारों को भौतिक दुनिया पर ही आधारित करने की आवश्यकता है, बल्कि यह उन मूढ़ (अद्वंद्वात्मक) भौतिकवादियों से भी संघर्ष करता है, जो ठंडेपन से चेतना की भूमिका को कम करके देखते हैं, और घटनाओं के प्रवाह में वह जाया करते हैं। माओ त्से-तुङ पर, खास तौर से अपनी बात कहते हुए, **बॉब अवाकिएन** (रिवोल्यूशनरी कम्युनिस्ट पार्टी, यू.एस.ए. के चेयरमैन) का कहना है कि

"वस्तुतः इसी कारण चीन के भीतर और बाहर के हर प्रकार के बुर्जुआ, संशोधनवादी और अवसरवादी माओ पर 'भाववादी' होने का आरोप लगाते है। लेकिन माओ पूरी तरह से एक भौतिकवादी ही थे। वह अपने विचारों को इस यर्थाथ दुनिया पर आधारित करते थे जो निरन्तर अपनी गति ओर परिवर्तन की प्रक्रिया में है, जो निम्नतर से उच्चतर की ओर विकासमान है, जिसमें नवीनता अपरिहार्यतः पुरातन का स्थान लेती रहती है रहती है। इस बात की उन्होंने कभी अनदेखी नहीं की, बल्कि, इसके विपरीत, वह हमेशा ही वर्तमान और भविष्य के बीच के रिश्ते को, और वर्तमान के भीतर भविष्य के बीजों के अस्तित्व को महसूस करते रहे, तथा इस सच्चाई को भी समझते रहे कि बुर्जुआ वर्ग के विरूद्ध सर्वहारा का संघर्ष और उसके फलस्वरूप समय-समय पर और अपरिहार्य रूप से, उठ खड़ी होती रहने वाली सारी प्रतिक्रियाएं, तमाम मोड़ों और घुमाओं तथा अस्थायी उलटावों और पराजयों के बावजूद, अन्ततः मानव जाति को कम्युनिज्म के लक्ष्य की ओर ही ले जायेगी,

जिसे अन्तरविरोध और संघर्ष ही आगे बढ़ाते रहेंगे'' (*माओ त्से-तुङ्ग इम्मॉर्टल कंट्रीब्यूशन्स*, पृ.-324)।

सारांश के तौर पर: भाववाद दुनिया की एक उल्टी तसवीर पेश करता है, जिसके अनुसार चेतना हर हालत में पहले है और वही पदार्थ को उत्पन्न करती है, जबकि यथार्थ में पदार्थ ही चेतना को उत्पन्न करता है, जो भाववाद में मनुष्य के विचार पहले या स्वतंत्र रूप से उत्पन्न होते हैं या यह कि वे ही उन सामाजिक दशाओं के मूल स्रोत हैं, जिनसे विचार पैदा होते है, और भाववाद में स्वतंत्र इच्छा की सारी चिकनी चुपड़ी बातों का सार यही है कि लोग दुनिया को अपने बलबूते हर्गिज नहीं बदल सकते, और कि इसीलिए उन्हें किसी एक ''परम सत्ता'' पर अवश्य विश्वास करना चाहिए।

लेकिन भौतिकवादी दृष्टिकोण सत्य को इसी भौतिक दुनिया में खोजता है, वह लोगों के विचारों को उनके सामाजिक अनुभव की पैदावार के रूप में देखता है, तथा इस भौतिक दुनिया और खासतौर से समाज के नियमों की गहरी से गहरी समझ हासिल करते हुए वह इस दुनिया को तथा इसमें रहने वाले लोगों को बदलने की कोशिश करता है।

द्वंद्ववाद बनाम आधिभौतिकता

एक सवाल है कि यदि सारी दुनिया पदार्थ के ही भिन्न-भिन्न रूपों की अभिव्यक्ति है, तब फिर हम इन भिन्न-भिन्न रूपों को उनकी गति और विकास में कैसे समझ सकते हैं? यह सवाल अधिभौतिक और द्वंद्वात्मक दृष्टिकोणों के बीच और भी अधिक बुनियादी दार्शनिक संघर्ष को जन्म दे देता है।

आधिभौतिक दृष्टिकोण, जैसा कि **माओ** ने स्पष्ट किया है, चीजों को

''अलग-अलग, स्थिर और एकांगी रूप में'' देखता है। ''यह विश्व की सारी चीजों, उनके रूपों और उनकी प्रजातियों को एक दूसरे से सर्वथा पृथक और अपरिवर्तनीय मानता है। यदि कोई परिवर्तन परिलक्षित होता भी है तो वह केवल मात्रा में घट-बढ़ या स्थान परिवर्तन के रूप में ही हो सकता है। और यह भी कि ऐसे घट-बढ़ या स्थान परिवर्तन का कारण चीजों के भीतर नहीं, बल्कि उनके बाहर होता है, अर्थात इसकी चालक शक्ति बाहरी ही होती है।'' (*अन्तरविरोध के बारे में*)

आधिभौतिक दृष्टिकोण विराम या स्थिरता को चीजों की स्वाभाविक स्थिति तथा परिवर्तन को असामान्य मानता है। तब इसके अनुसार, विकास महज एक जोड़ श्रृंखला है, न कि नये का पुराने से संघर्ष की एक प्रक्रिया जिसमें अन्ततः नया विजयी होकर पुराने का स्थान ले लेता है।

आधिभौतिकता के विरोध में, माओ त्से-तुङ ने द्वंद्ववाद को इस प्रकार सार रूप में प्रस्तुत किया है --

''...भौतिकवादी द्वंद्ववाद की मान्यता है कि किसी चीज के विकास को समझने के लिए हमें इसका भीतर से, और दूसरी चीजों के साथ इसके सम्बन्धों में, अध्ययन करना चाहिए, दूसरे शब्दों में, चीजों के विकास को उनकी आन्तरिक और आवश्यक स्वयं-चलित गति के रूप में देखा जाना चाहिए, जिसमें हरेक चीज अपने इर्द गिर्द की और चीजों के साथ अन्तःसम्बन्धित और अन्तःक्रिया करती रहती है।'' (*वही*)

सारे परिवर्तनों और विकास का कारण वे अन्तरविरोध हैं जो चीजों के भीतर होते हैं – अर्थात, चीजों के भीतर विरोधों की एक एकता होती है जो एक ही साथ एक दूसरे के साथ अस्तित्वमान और एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष में होते हैं। यह इस विश्व का बुनियादी नियम है।

रोजमर्रा की बोलचाल में, ''अन्तरविरोध'' को इस अर्थ में लिया जाता है कि चीजों को जिस ढंग से होना या आभास देना चाहिए उसमें कोई विसंगति आ गयी है। इसी तरह किसी दलील के विरोध का मतलब उसकी विसंगतियों का दिखा देना होता है। ''सम्बन्धों में अन्तरविरोध'' का निहितार्थ यही है कि दो भिन्न-भिन्न गुण एक ही चीज में नहीं रह सकते, या यह कि किसी भी चीज में उसका अभिलाक्षणिक गुण और उसका विरोधी गुण एक ही साथ नहीं रह सकते।

लेकिन ''अन्तरविरोध'' शब्द का द्वंद्वात्मक इस्तेमाल इससे कहीं व्यापक और सही अर्थ में होता है। किसी प्रक्रिया या चीज के भीतर अन्तरविरोध विरोधी शक्तियों का एक ही साथ परस्पर सहअस्तित्व और संघर्ष दोनों ही है, यही उसके अस्थायी अस्तित्व, गति और विकास तथा उसके परिणामी अन-स्तित्व को निर्धारित करता है। एक जीवधारी निश्चय ही जीवित होता है, लेकिन क्या उसके भीतर ही उसकी मृत्यु के भी बीज निहित नहीं होते? क्या उसके भीतर कोशिकाएं मरती नहीं रहती, और क्या वह अपने भीतर इन मृत कोशिकाओं से छुटकारा पाने के लिए संघर्ष नहीं करता होता? क्या वह निर्जीव पदार्थ (भोजन, हवा आदि) को जीवन में तब्दील नहीं करता, और क्या अन्ततः वह मृत्यु को नहीं प्राप्त हो जाता और जब उसके भीतर का यह संघर्ष रुक जाता है और जब उसके भीतर मृत्यु जीवन के ऊपर विजयी हो उठती है?

ऐसे ही और भी उदाहरण देखे जा सकते हैं। युद्ध निश्चय ही शांति से भिन्न है, लेकिन ये तो अन्तरविरोधी शक्तियां ही हैं जो शांतिकाल में एक साथ अस्तित्वमान रहती है और इन्हीं का संघर्ष अन्ततोगत्वा तीव्र होकर युद्ध में परिणत हो जाता है। बाजारों के लिए ''शांतिपूर्ण'' प्रतियोगिता, यथास्थिति बनाये रखने (या भंग करने) की गला काटू जोर-आजमाइशें, और महाशक्तियों की उद्धत हथियारबन्दी -- क्या ये सभी की सभी शान्तिकाल में एक साथ अस्तित्वमान नहीं रहती? पर क्या ये शांति का बाना धारण किये होते हुए भी उसी शांति के भीतर युद्ध के भी बीज नहीं धारण किये होतीं? ठीक यही बात उत्पीड़ित वर्गों और राष्ट्रों के न्यायपूर्ण मुक्ति युद्धों के लिए भी सच है -- जो उत्पीड़कों के खिलाफ उत्पीड़ितों के ''शांतिपूर्ण'' संघर्ष से एक गुणात्मक छलांग के रूप में विकसित हो जाते हैं।

माओ ने इस सिद्धान्त को अत्यंत लोकप्रिय शैली में ''एक का दो में बंटना'' के रूप में अभिव्यक्त किया है, जिसका अर्थ यह है कि प्रत्येक चीज अपने दो परस्पर विरोधी पहलुओं के आपसी संघर्ष की बदौलत ही अस्तित्वमान और विकासमान रहती है। समाज के भीतर प्रगति दो परस्पर विरोधी वर्गों के बीच चलने वाले संघर्ष का ही परिणाम होती है, पार्टी के भीतर यह प्रगति भी उस संघर्ष के फलस्वरूप ही होती है जो इन परस्पर विरोधी वर्गों के अभिलाक्षणिक सही और गलत विचारों के बीच चलता रहता है। यह बात प्रकृति की गहराई में परमाणु तक पर भी लागू होती है जो इलेक्ट्रानों और प्रोटानों के संघर्ष और एकता के रूप में देखी जा सकती है, और यहां तक कि इनके और बारीक विभाजनों में भी यही बात है।

इस प्रकार, जैसा कि **माओ** ने लिखा है, ''सभी चीजों में मौजूद अन्तरविरोधी पहलुओं की परस्पर निर्भरता और इन पहलुओं के बीच के संघर्ष ही सभी चीजों के अस्तित्व को निर्धारित करते और उनके विकास को आगे बढ़ाते हैं। कोई ऐसी चीज है ही नहीं जिसमें अन्तरविरोध न हो, अन्तरविरोध के बिना कोई अस्तित्व नहीं हो सकता।''

छलांगों के जरिये विकास

किसी प्रक्रिया या चीज के परस्पर विरोधी पहलू अनिश्चित काल तक संघर्ष में नहीं रहते। एक निश्चित बिन्दु पर विकास में छलांग लग

जाती है – अर्थात विरोधों में संघर्ष और रूपान्तरण होते-होते एक सर्वथा नयी प्रक्रिया अस्तित्व में आ जाती है। इस प्रकार संघर्ष चक्रीय न होकर सर्पिल होता है, जो विभिन्न मोड़ों-घुमाओं और चढ़ाव-उतारों से गुजरते हुए निरन्तर पहले से उच्चतर स्तरों की ओर बढ़ता रहता है, और अन्ततः छलांग लगा कर एक सर्वथा नयी मंजिल पर जा पहुंचता है।

गुणात्मक छलांगों के जरिए विकास की यह अवधारणा उन ''मूढ़ विकासवादियों'' के खिलाफ जाती है जो परिवर्तन की बात तो स्वीकार करते हैं परन्तु उसे छलांगों या क्रांतियों से रहित सिर्फ एक सपाट और अटूट सिलसिले के रूप में निरूपित करते हैं।

एक बच्चे के जन्म का उदाहरण लें। एक भ्रूण शुक्राणु और अण्डाणु के रूप में दो विरोधों की एकता से निर्मित होता है। लेकिन तत्क्षण ही यह भ्रूण विभाजित होना शुरू कर देता है, और कोशिका-वृद्धि करते हुए एक गर्भ के रूप में विकसित होता है। गर्भ-धारण के शेष अवधि तक यह शिशु एक किस्म की एक चीज के रूप में अस्तित्वमान रहता है, जिसके अपने विशिष्ट अन्तरविरोध और अपनी विशिष्ट अन्तरविरोध और अपनी विशिष्ट प्रक्रियाएं होती हैं, जबकि इन्हीं के साथ यह मात्रात्मक रूप से बढ़ भी रहा होता है और एक भिन्न चीज के रूप में विकसित भी हो रहा होता है। जन्म के क्षण, विरोधों की पुरानी एकता भंग हो जाती है, एक दो में बंट जाता है, गर्भ का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, गर्भ-झिल्ली अलग हो जाती है और गुणात्मक रूप से एक नयी चीज -- एक स्वतंत्र शिशु के रूप में अस्तित्व में आ जाती है।

सर्वहारा क्रांति का सर्पिल विकास

चक्रीय नहीं, बल्कि सर्पिल विकास की एकमात्र द्वंद्वात्मक धारणा ही, इतिहास की वास्तविक गति को, खासतौर से सर्वहारा क्रांति और एक वर्गहीन, साम्यवादी समाज में संक्रमण की सुस्पष्ट व्याख्या कर सकती है। सर्वहारा वर्ग ने समाज को रूपान्तरित करने के तीन ऐतिहासिक प्रयास किये हैं -- 1871 का पेरिस कम्यून, रूसी क्रांति और चीनी क्रांति। लेकिन इन तीनों प्रयासों में से हरेक को अन्ततोगत्वा अस्थायी तौर पर बुर्जुआ वर्ग द्वारा पराजित हो जाना पड़ा, और इस प्रकार पूंजीवाद फिर स्थापित हो गया।

संक्षेप में, अबतक का सर्वहारा क्रांति का यही इतिहास रहा है – लेकिन केवल आरम्भिक इतिहास, केवल आरम्भिक प्रयासों, को ही इंगित करता है। हालांकि पूंजीवाद को उखाड़ फेंकने और उसका समूल नाश करने में ये प्रयास स्मारकीय महत्व के रहे है।, फिर भी वे पराजय में परिणत हो चुके है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि यह क्रांति-पुनर्स्थापना-क्रांति-पुनर्स्थापना के एक चक्र जैसा प्रतीत होता है और इसीलिए आधिभौतिकतावादी कहते हैं कि सारी कुर्बानियों का वस्तुतः यही हश्र होता है।

लेकिन इसका जवाब आर.सी.पी., यू.एस.ए. (अमेरिका की क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी) ने *रिवोल्यूशन एण्ड काउण्टर रिवोल्यूशन* नामक पुस्तक में दिया हैं, जो चीन में क्रांति के साथ किये गये विश्वासघात का विश्लेषण करती है।

''और इसे स्पष्ट तौर पर स्वीकार करना ही होगा कि अभी मजदूर वर्ग एक सुदीर्घ अवधि तक सत्ता पर काबिज बने रहने में समर्थ नहीं हो पाया है। लेकिन अन्तरराष्ट्रीय मजदूर वर्ग शून्य बिन्दु पर भी नहीं जा पहुंचा है। इसमें ऐसा मानने की कोई बात नहीं है कि इतिहास महज अपने आप को दुहराता रहता है। मजदूर वर्ग का आन्दोलन क्रांति करने के अनुभव, और पिछले अनुभवों से सीखकर तथा नयी दशाओं का समाहार करके आगे के लिए और भी स्पष्ट मार्ग निरूपित करते हुए पहले से एक उच्चतर स्तर पर जा पहुंचा है। यह तो महज अभी 100 वर्षों से कुछ ही अधिक समय पहले की बात है जब मजदूर वर्ग पहली बार संगठित रूप में उठ खड़ा हुआ था और पहली मजदूर सरकार, पेरिस कम्यून की स्थापना की थी। बेशक यह थोड़े समय के लिए ही रही, फिर भी इसने मजदूरों के शासन के सवाल को ज्वलन्त रूप में पेश तो कर ही दिया। सत्ता पर कब्जा करने और मजदूर वर्ग के शासन को सुदृढ़ बनाने की समस्या को बोल्शेविक क्रांति के अनुभव के जरिये. हल किया गया। और जब चीनी क्रांति में सोवियत अनुभव की रोशनी में यह समस्या सामने आयी कि पुनर्स्थापना को रोकने के लिए जनसमुदायों को लामबन्दी कैसे की जाए, तो इसे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से सांस्कृतिक क्रांति के जरिये हल किया गया।

''लेकिन इन समस्या-समाधानों में से प्रत्येक ने नये अन्तरविरोधों और नयी कठिनाइयों को भी उजागर किया जिन्हें सर्वहारा क्रांति के विश्वव्यापी अनुभव द्वारा ही हल किया जा सकता था। इसी कारण, मजदूर वर्ग की चीन में सत्ता, यद्यपि सोवियत संघ में उसकी सत्ता की तुलना में कम ही समय के लिए कायम रही, फिर भी इसने बोल्शेविक क्रांति द्वारा समुपस्थित अन्तरविरोधों को हल करने में जिस योग्यता का परिचय दिया उससे मजदूर वर्ग का आन्दोलन एक और उच्चतर स्तर पर जा पहुंचा। माओ त्से-तुङ विचारधारा इन अनुभवों और वर्ग-संघर्ष के सबकों को और समृद्ध करती है जिससे लाभ उठाकर मजदूर वर्ग का और भी आगे बढ़ते जाना सम्भव होता रहेगा।''

लेकिन इस आकार के एक परिचयात्मक लेख में द्वंद्ववाद के कुछ सारभूत बिन्दुओं का स्पर्श भर ही किया जा सकता है। अतः पाठकों से अनुरोध है कि वे इस निबन्ध के अन्त में सूचीबद्ध किये गये साहित्य, और खासतौर से, माओ का ''*अन्तरविरोध के बारे में*'' वाला निबन्ध अवश्य पढ़ें।

मार्क्सवादी दर्शन का विकास

हालांकि पीछे स्पर्श भर ही किया गया है, लेकिन द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का मार्क्स और एंगेल्स का आरम्भिक खोजपूर्ण निरूपण और मानव समाज पर उसके प्रयोग के तौर पर निरूपित ऐतिहासिक भौतिकवाद सचमुच एक विश्व ऐतिहासिक नवोन्मेष था। मार्क्सवाद के इन बुनियादी आधारों की सतत सुरक्षा और उनका आगे की ओर विकास करते रहना आवश्यक है। कारण कि समाज और प्रकृति अनवरत विकासमान है, और इसीलिए नयी-नयी चुनौतियां भी पैदा होती ही रहती है।

लेनिन ने भौतिकवाद बनाम भाववाद के सवाल पर, खासतौर से 19वीं सदी में भाववाद के प्रचलित रूपों जैसे आनुभाविक आलोचना, प्रत्यक्षवाद और व्यवहारवाद के विरूद्ध, मार्क्सवादी दर्शन को और भी हिफाजत और उसे गहराई प्रदान की। मार्क्सवादी दर्शन को लेनिन ने जो हिफाजत की वह संशोधनवाद के विरुद्ध किये जाने वाले संघर्ष से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित थी। इसके मजबूत वैज्ञानिक आधारों ने ही लेनिन और बोल्शेविकों को इतना समर्थ। बनाया कि वे उन अन्धड़-तूफानों में भी मजबूती से खड़े रह सके जिनका उठ खड़ा होना अपरिहार्य था और जो उठ खड़े हुए भी, जबकि दूसरे लोग जो इस मिथकीय विश्वास के आगे नतमस्तक थे कि ''पूंजीवाद काम करता है'', टूट गये और कायरों की भांति भाग चले। लेनिन ने द्वंद्ववाद को भी और विकसित किया तथा विरोधों की एकता और संघर्ष को द्वंद्ववाद के सबसे महत्वपूर्ण नियम के रूप में प्रतिष्ठित किया। फिर भी यह कार्य तो आगे चलकर माओ

त्से-तुंग ने ही किया कि उन्होंने लेनिन के इस दृष्टिकोण को और विकसित किया, और ऐसा करके, उन्होंने द्वंद्ववाद की समझ को एक सर्वथा नये स्तर पर पहुंचाया।

"अन्तरविरोध के बारे में" नामक माओ की ऐतिहासिक कृति ने अपना अग्निवाण उन कठमुल्लावादियों पर चलाया जो चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का गला घोंट देने में लगे हुए थे। वस्तुतः कठमुल्लावाद की अभिलाक्षणिक विशिष्टता ही यही है कि या तो वह किसी अन्तरविरोध के सिर्फ एक ही पहलू पर विचार करता है, या उसके दोनों पहलुओं को एक-दूसरे से अलग कर देता है (और इसीलिए आमतौर पर सिद्धान्त को व्यवहार से अलग कर देता है)। परन्तु माओ ने चीजों को उनकी गति और विकास में सही ढंग से समझने की एक कुंजी के तौर पर विरोधों के बीच एकता और संघर्ष दोनों की समझदारी हासिल करने पर जोर दिया। और इसी बिन्दु से आरम्भ करके उन्होंने द्वंद्ववाद की तमाम महत्वपूर्ण अवधारणाओं का निरूपण किया।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद में माओ द्वारा किये गये महानतम सर्वतोमुखी योगदान में उनका द्वंद्ववाद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने यह खोजपूर्ण निरूपण किया कि समाजवाद में भी वर्गसंघर्ष ही मुख्य अन्तरविरोध होता है। इसके साथ ही उन्होंने इस संघर्ष के चरित्र और इसके आधार को भी निरूपित किया। यह सम्यक समझदारी हासिल किये बगैर कि अन्तरविरोध के परस्पर विरोधी पक्ष एक ही साथ संघर्ष और सहअस्तित्व दोनों ही में रहते हैं तथा उपयुक्त दशाओं में एक दूसरे में रूपान्तरित भी होते हैं, भला यह कैसे समझा जा सकता है कि समाजवाद के अन्तर्गत बुर्जुआ वर्ग सर्वहारा वर्ग के साथ सहअस्तित्व में भी रहता है और संघर्ष भी करता है? इसे समझे बिना सर्वहारा वर्ग विजयी होने के लिए कैसे तैयारी कर सकता है? इससे यह बात एक बार फिर पूरी तरह से साबित हो जाती है कि दर्शन को समझना और अमल में लाना कोई "दिलबहलाव" नहीं, बल्कि सफल संघर्ष-संचालन के लिए यह क्रांतिकारी सर्वहारा की परम आवश्यकता है।

सर्वहारा को भौतिकवादी द्वंद्ववाद की समझ हासिल करनी ही होगी

सर्वहारा वर्ग केवल तभी क्रांति कर सकता है तथा इस प्रक्रिया में समाज को तभी बदल और अपने समेत समस्त मानव जाति को मुक्त कर सकता है, जब वह भौतिकवादी द्वंद्ववाद की पूरी समझ हासिल करके और उसे व्यवहार में लागू करे।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद सर्वहारा को पूंजीवाद की तह में अन्तिम रूप से प्रवेश करने में समर्थ बनाता है। जैसा कि मार्क्स ने कहा है, पूंजीवाद तो महज एक "विशिष्ट ऐतिहासिक अवस्था" भर है। अतः सर्वहारा को यह समझना ही होगा कि उसे अपरिहार्यतः इस पूंजीवाद को विस्थापित करना ही है एक शब्द में कहें तो यह मजदूर वर्ग को उसका ऐतिहासिक मिशन बताता है।

इसके अतिरिक्त, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद मजदूर वर्ग को इस योग्य बनाता है कि वह समाज का विश्लेषण कर सके, क्रांति करने में उपस्थित होने वाली रणनीतिक और रणकौशलात्मक समस्याओं को हल कर सके, और क्रांति को सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तगर्त जारी रख सके। और अन्तिम बात यह है कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को पूरी तरह समझ और विकसित करके मानव जाति न केवल वर्ग-समाज की इस अवस्था से आगे बढ़कर कम्युनिस्ट समाज में एक गुणात्मक छलांग लगा जायेगी – बल्कि तब भी यह संघर्ष करती रहेगी, लेकिन यह संघर्ष तब शोषणकारी वर्गों के बीच का संघर्ष नहीं, बल्कि एक ऐसा संघर्ष होगा जो प्रकृति पर अधिकार करने के लिए तथा उन पुराने पड़ चुके सम्बन्धों, संस्थाओं और विचारों के विरुद्ध एक द्वंद्वात्मक रूप से सम्बन्धित संघर्ष होगा जिन्हें शिकस्त देने का काम कम्युनिज्म के भीतर भी पड़ता रहेगा।

दर्शन सम्बन्धी कुछ पठनीय साहित्य

एंगेल्स, समाजवादः काल्पनिक और वैज्ञानिक

माओ त्से-तुङ, अन्तरविरोध के बारे में

लेनिन, भौतिकवाद और अनुभववादी-आलोचना, *अध्याय 1, सेक्शन 1, अध्याय 2, सेक्शन 1 और 2, अध्याय 3, सेक्शन 6, अध्याय 4, सेक्शन 2 और 3*

बॉब अवाकिएन, माओ त्से-तुंग्स इम्मॉर्टल कण्ट्रीब्यूशन्स, *अध्याय 4 : "फिलासफी"*

पूंजीवाद का घृणित क्षुद्र रहस्य

"यह जान चुकने के बाद कि आर्थिक प्रणाली ही वह आधार है जिस पर राजनीतिक अधिरचना खड़ी होती है, मार्क्स ने अपना सबसे अधिक ध्यान इसी आर्थिक प्रणाली के अध्ययन पर केन्द्रित किया। मार्क्स की प्रमुख कृति **पूंजी** आधुनिक, अर्थात, पूंजीवादी समाज की इसी आर्थिक प्रणाली के अध्ययन पर केन्द्रित है..." (**लेनिन**: *"मार्क्सवाद के तीन स्रोत और तीन संघटक अंग"*)

पूंजीवाद का अध्ययन करने और इस प्रकार उसका विश्लेषण करने के लिए कि उसे कैसे उखाड़ फेंका जाये, मार्क्स ने पूंजीवाद उत्पादन की सारवस्तु : माल को प्रस्थान-बिन्दु बनाया। अब सवाल है कि माल क्या है? और माल उत्पादन क्या है?

माल उत्पादन का मतलब है विनिमय के लिए, बाजार में बिक्री के लिए, उत्पादन। यदि आप अपने अहाते में सब्जियां उगाते है, और सब का सब खुद ही खा जाते हैं तब इसका मतलब है कि आपने उपयोग-मूल्य यानी ऐसी चीजें पैदा की है जो उपयोगी है -- लेकिन इसे माल-उत्पादन नहीं कहा जायेगा। लेकिन यदि आप इन सब्जियों को अपने पड़ोसियों में इसलिए बेचते हैं कि उनके बदले कुछ दूसरी चीजें खरीद सकें, तब इसका मतलब यह होगा कि आपने केवल उपयोग-मूल्य ही नहीं, बल्कि विनिमय मूल्य यानी एक ऐसा मूल्य भी पैदा किया है जिसे पाने के लिए आप सब्जियां बेच सकते है। विनिमय के लिए किया जाने वाला यह उत्पादन ही माल-उत्पादन है।

प्रत्येक माल के भीतर एक बुनियादी अन्तरविरोध होता है। इसके भीतर उपयोग मूल्य का होना अनिवार्य है, क्योंकि यदि यह उपयोगी न हो तो कोई इसे खरीदेगा ही नहीं। लेकिन इसमें एक विनिमय मूल्य भी होता है -- अर्थात इसका निश्चित दरों पर दूसरे मालों के साथ विनिमय किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, जैसे डबल रोटी के दो पैकेट एक गैलन पेट्रोल के बराबर हों।

लेकिन यह विनिमय मूल्य निर्धारित कैसे

होता है? यदि मालों का निश्चित दरों पर विनिमय किया जा सकता है तब तो इसका मतलब यह हुआ कि निश्चय ही कोई ऐसी चीज है जो दोनों में समान रूप से शामिल है। लेकिन क्या यह उनका उपयोग मूल्य है? बिल्कुल नहीं -- हम पेट्रोल और डबल रोटी की उपयोगिता की परस्पर तुलना नहीं कर सकते, क्योंकि वे दोनों एक दूसरे से गुणात्मक रूप से भिन्न हैं, और उनमें से किसी को भी दूसरे के बराबर नहीं कहा जा सकता। **मार्क्स** ने इंगित किया कि "यदि हम मालों के उपयोग मूल्य की बात को छोड़ दें, तो उनमें सिर्फ एक ही समान गुण बचा रह जाता है, और वह है श्रम के उत्पाद होने का गुण।" (*पूंजी*, खण्ड 1, पृ. 38)। अतः यह किसी माल के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम ही है जो विनिमय में उसका मूल्य निर्धारित करता है।

हम यहां व्यक्तिगत श्रम काल की बात नहीं कर रहेः कोई डबल रोटी बनाने वाला इतना सुस्त हो सकता है कि वह डबल रोटी का एक पैकेट तैयार करने में अपने किसी दूसरे प्रतिद्वंद्वी की अपेक्षा दूना समय ले सकता है। लेकिन वह शायद ही उसे दूने दाम पर बेच पाये। यह तो सामाजिक रूप से आवश्यक औसत श्रम काल -- अर्थात वह श्रम काल है जो "उत्पादन की सामान्य दशाओं के अन्तर्गत, उस समय प्रचलित औसत कार्यकुशलता और कार्यदक्षता के साथ किसी वस्तु को पैदा करने के लिए आवश्यक" होता है, और यही किसी माल का विनिमय मूल्य निर्धारित करता है (*पूंजी*, खण्ड 1, पृ०39)

तब आपूर्ति और मांग के उस नियम का क्या होगा जो इस धारणा पर आधारित है कि किसी माल की सापेक्षिक दुर्लभता या उपलब्धता ही उसका मूल्य निर्धारित करती है? बेशक आपूर्ति और मांग मालों के विनिमय के अनुपातों को *प्रभावित* करती है, लेकिन इसके बावजूद यह तो किसी माल के मूल्य में समाहित श्रम-काल की वह मात्रा ही है जो उस सामान्य दायरे का निर्धारण करती है जिसके अन्तर्गत ही किसी चीज का दाम कम या अधिक होता रहता है।

उदाहरण के तौर पर, भले ही क्राइस्लर के पास इतनी अधिक कारें हो कि बेचने की कौन कहे उन्हें जमा भी किये नहीं रख सकते हैं। यदि वह रियायतें वगैरह देकर कारें के दाम कम भी करते जायें, तब भी एक ऐसी न्यूनतम सीमा तो होगी ही जिसके नीचे अब और दाम नहीं गिराये जा सकते, चाहे ढेरों कारें पड़ी-पड़ी जंग ही क्यों न खाती रहें। दूसरी तरफ, कुछ वर्ष पहले जब सी बी रेडियों का बाजार बहुत गर्म था और आपको उसका एक सेट खरीदने के लिए महीनों इन्तजार करना पड़ता था, तब भी उसका दाम एक निश्चित सीमा से ऊपर नहीं गया। और मांग चाहे जितनी भी अधिक क्यों न रही हो, या माल की उपलब्धता चाहे जितनी भी अधिक क्यों न रही हो, क्राइस्लर कारें तब भी एक अच्छे सी बी सेट के सामान्यतः पचास गुना दाम पर ही बिकती थीं।

पूंजीवादी उत्पादन की अराजकता

पूंजीवादी शासकवर्ग प्रायः क्रांतिकारियों को "अराजकतावादी" कह कर बदनाम करने की कोशिश करता रहता है। परन्तु सच तो यह है कि ये पूंजीपति और उनकी प्रणाली ही असली अराजकतावादी है। माल-उत्पादन एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करती है जिसमें किसी भी माल उत्पादक को यह पता नहीं होता कि "क्या उसका व्यक्तिगत उत्पाद वास्तविक मांग को पूरा करेगा, या यह कि क्या वह अपने उत्पादन लागत पर लाभ कमा सकेगा अथवा यह भी कि क्या वह अपने माल को बेच भी पायेगा। *पूंजीवाद के समाजीकृत उत्पादन में अराजकता का आलम छाया होता है।* (एंगेल्स, *समाजवाद, काल्पनिक और वैज्ञानिक*, जोर हमारा)

उत्पादन की यह अराजकता पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ प्रचण्ड रूप धारण करती जाती है, जो हरेक चीज को माल में तब्दील करती जाती है, और इस तरह सामाजिक उत्पादन की समूची प्रक्रिया को मूल्य के नियम की अंधी कार्यवाही के हवाले कर देती है। इसके अन्तर्गत उत्पादन समाज के सम्पूर्ण विकास की किसी योजना के अनुसार नहीं होता, बल्कि मालों को आंख मूंद कर और आपाधापी में बाजार में ठेल दिया जाता है, जिसका एकमात्र उद्देश्य यही होता है कि पूंजीपति अधिक से अधिक पूंजी बटोर ले।

पूंजीवाद सिर्फ श्रम के उत्पादों को ही नहीं, बल्कि स्वयं मानवीय श्रम-शक्ति को भी माल में तब्दील कर देता है। इस प्रकार श्रम शक्ति यानी श्रम करने की योग्यता को बाजार में वैसे ही खरीदा-बेचा जाने लगता है जैसे पेट्रोल या डबल रोटी।

मार्क्स ने पूंजीवाद के इस बुनियादी सामाजिक सम्बन्ध को *उजरती श्रम और पूंजी* ने विश्लेषित किया हैः

"इस प्रकार श्रम-शक्ति एक माल है जिसे इसका धारणकर्ता, यानी उजरती मजदूर, पूंजी के हाथों बेचता है। वह इसे क्यों बेचता है? जिन्दा रहने के लिए।

"परन्तु श्रम-शक्ति का इस्तेमाल, अर्थात श्रमकार्य ही तो उसकी जीवन क्रिया है, उसकी जिन्दगी की अभिव्यक्ति है। और इसी *जीवन-क्रिया* को वह जीविका के आवश्यक साधन प्राप्त करने के लिए दूसरे व्यक्ति के हाथों बेचता है। इस प्रकार उसकी जीवन-क्रिया केवल उसके जिन्दा रहने के लिए श्रम करता है। वह श्रम को अपने जीवन का भाग नहीं मानता, बल्कि उसे तो अपने जीवन को एक कुर्बानी ही समझता है। उसने इसके दूसरे मालों की तरह इसे भी एक माल बना दिया है। अतः उसकी क्रिया का उत्पाद उसकी क्रिया का उद्देश्य भी नहीं रह जाता। वह अपने लिए जो कुछ पैदा करता है वह वह रेशम नहीं होता है जिसे वह बुनता है, न वह सोना होता है जिसे वह खानों से निकालता है, और न ही वह महल होता जिसे वह बनाता है। वह अपने लिए सिर्फ *उजरत* पैदा करता है, तथा रेशम, सोना, महल आदि उसके लिए आजीविका के साधनों की एक निश्चित मात्रा, और शायद एक सूती जाकिट, कुछ तांबे के सिक्कों और एक तहखाने जैसी कोठरी में रहने का जुगाड़ करने के निमित्त मात्र बनकर रह जाते हैं...।"

बेशी मूल्यः पूंजीवादी शोषण का रहस्य

पूंजीपति की सम्पदा का मुख्य स्रोत कोई सीधी-सादी कार्यवाही में निहित नहीं है। पूंजीपति की सम्पदा का स्रोत वह माल -- वह श्रम शक्ति -- है जिसे वह बाजार में खरीदता है -- जो "सिर्फ मूल्य का ही स्रोत नहीं, बल्कि उसमें निहित मूल्य से भी अधिक मूल्य का स्रोत है।"। (*पूंजी*)

ऐसा कोई माल कैसे हो सकता है?

श्रम ही कार्य है। यही सारे विनिमय मूल्य पैदा करता है। पूंजीपति तो यही कहेगा कि वह मजदूर को उसके श्रम की कीमत देता है। लेकिन ऐसा है नहीं। पूंजीपति मजदूर से जो चीज खरीदता है वह श्रम नहीं, बल्कि श्रम-शक्ति है -- श्रम करने की योग्यता। और अन्य किसी भी माल की भांति ही श्रम-शक्ति का मूल्य भी इसे पैदा करने के लिये आवश्यक श्रम काल द्वारा निर्धारित होता है, अर्थात मजदूर के भरण-पोषण के लिए कपड़े-लत्ते, खाने-पीने, आवास आदि तथा उसके मजदूरों की एक नयी पीढ़ी तैयार करने में समर्थ बने रहने के लिए आवश्यक

मूल्य द्वारा। श्रम शक्ति का मूल्य केवल शारीरिक अस्तित्व की न्यूनतम आवश्यकताओं (जो भिन्न-भिन्न हो सकती हैं) के द्वारा भी निर्धारित होता है।

एक बार जब पूंजीपति एक दिन की श्रम शक्ति खरीद लेता है, तो यह श्रम शक्ति उसकी हो जाती है। मजदूर अपने दिन भर की उजरत के बराबर मूल्य चार घण्टों या उससे भी कम समय में पैदा कर देता है। लेकिन पूंजीपति काम को इतने पर ही रोक नहीं देता, बल्कि "अपने" मजदूर से पूरे आठ घण्टे या और भी अधिक समय तक काम करवाता रहता हैं और इसके बावजूद, यह गौरतलब बात है कि मजदूर जितना कुछ पैदा करता है उसके मूल्य के बराबर उजरत उसको वह कतई नहीं देता बल्कि उसे तो दिन भर महज उत्पादन करने लायक बने रहने तक की ही उजरत देता है। इन दोनों के बीच का अन्तर ही बेशी मूल्य है जिसे पूंजीपति अपने मुनाफे के तौर पर हड़प जाता है।

एक ठेठ उदाहरण लें। पूंजीपति उत्पादन के साधनों, मशीनरी ओर कच्चे माल खरीदता है (जिसे मार्क्स *स्थिर पूंजी* कहते हैं)। यह पूंजी एकबारगी या थोड़ा-थोड़ा करके तैयार माल को हस्तान्तरित हो जाती है, जो उत्पादन के विशिष्ट प्रकृति पर निर्भर करता है। मान लीजिये कि एक वस्त्र-निर्माता को सूत पर और मजदूर द्वारा दिनभर कार्य करने के दौरान मशीन की घिसाई पर 12 घण्टे के श्रम-काल के बराबर लागत लगानी पड़ती है। चूंकि मुद्रा मूल्य का प्रतिनिधत्व करती है, इसलिए मान लीजिए कि एक घण्टे के श्रमकाल का मूल्य 10 डालर है। तब पूंजीपति को उत्पादन के इन साधनों पर दिन भर में 120 डॉलर की लागत लगानी पड़ेगी, जिसे वह, ठीक ही, अपने उत्पाद के दाम के रूप में रखता है।

पूंजीपति भाड़े पर भी मजदूर रखता है और उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य के एवज में उसे मजदूरी देता है, जो कि मजदूर और उसके परिवार की दिन भर की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दी जाती है। मान लीजिए कि यह रकम 40 डालर या 4 घण्टों के श्रम के मूल्य के बराबर हैं। इस खरीदी गयी श्रम-शक्ति को मार्क्स *परिवर्तनशील पूंजी* कहते हैं, क्योंकि यह स्वयं अपने मूल्य से कहीं अधिक मूल्य का तैयार माल में इजाफा कर देती है। पूंजीपति मजदूर को 8 घण्टे तक काम पर रखता है, जिसके दौरान मजदूर ढेर सारी पतलूनें तैयार करता है। पूंजीपति इन पतलूनों को उनके मूल्य पर बेचेगा, जो उत्पादन के साधनों या स्थिर पूंजी (12 घण्टे श्रमकाल) के मूल्य और मजदूर द्वारा पैदा किये गये 8 घण्टे के श्रमकाल के मूल्य के जोड़ के बराबर होगा। यह 20 घण्टे के श्रमकाल के मूल्य या 200 डालर के बराबर होगा। लेकिन पूंजीपति ने उत्पादन के साधनों और उजरत के रूप में कुल रकम मात्र (60 डालर के बराबर ही खर्च की है। इस कार्यवाही में उसने 40 डालर बेशी मूल्य बना लिया है।)

इस उदाहरण में कुछ भी ऐसा नहीं है जिससे समान मूल्यों के विनिमय का नियम भंग होता हो। इसमें कोई भी अपनी रकम नहीं गंवाता। यह न्यायसंगत पूंजीवाद है -- एकदम पाक-साफ। श्रमशक्ति और कच्चे मालों को उनके मूल्य पर ही खरीदा गया था, और पतलूनों को उन्हीं के मूल्य पर बेचा गया -- *फिर भी पूंजीपति मुनाफा बटोर ले जाता है।*

ऐसा क्यों? इसलिए कि उसने मजदूर को मजदूरी तो चार घण्टे के श्रमकाल के मूल्य के बराबर दी, लेकिन उससे काम आठ घण्टे तक लिया। शेष चार घण्टों के *उजरतरहित श्रमकाल* में पैदा किये गये मूल्य को पूंजीपति ने बेशी मूल्य के रूप में खुद ले लिया। इसी तरह पूंजीपति की सम्पदा दिन-ब-दिन बढ़ती जाती है, जबकि मजदूर को अपना दैनिक भोजन जुटाने के लिए रोज-रोज काम पर जाना पड़ता है। मार्क्स ने बेशी मूल्य के इसी उत्पादन को पूंजीवादी उत्पादन का "रहस्य" -- घृणित क्षुद्र रहस्य कहा है।

बेशक कुछ लोग इसे अतिशयोक्ति मान सकते हैं। क्या ऐसा है? लेकिन सच तो यह है कि इस उदाहरण में उस शोषण को तो अभी काफी कम करके ही आंका गया है जो आज अमेरिका में मजदूरों का हो रहा है। अमेरिका में हर औसत मजदूर अपनी उजरत के मूल्य के बराबर काम महज दो ही घण्टे में पूरा कर देता है, जबकि शेष छह घण्टे तक किया जाने वाला उसका काम पूंजीपतियों के लिए बेशी उत्पादन में चला जाता है।

पूंजी की बढ़ोत्तरी मजदूर वर्ग की कंगाली की बढ़ोत्तरी है

पूंजी कभी रुकती नहीं -- यह *विकसित* होती रहती है। इसके विकास का विश्लेषण ही *पूंजी की बढ़ोत्तरी* या पूंजी संचय का विश्लेषण है।

पूंजीपति अपने बेशी मूल्य को पूरा का पूरा या उसका कोई अंश अपनी आरंभिक पूंजी में जोड़कर पूंजी की वृद्धि करता रहता है, और फिर इस बढ़ी हुई रकम को और भी अधिक बेशी मूल्य की फसल काटने के लिए पुनर्निवेशित करता रहता है। इस बढ़ोत्तरी में किसी चाहत का मामला नहीं है -- यह पूंजीपति की जरूरत है, यदि उसे एक पूंजीपति के रूप में जिन्दा रहना है। यदि वह अपने समूचे बेशी मूल्य को अपने निजी उपभोग पर खर्च करता जाये, तो अन्ततः उसे उन पूंजीपतियों के कड़े मुकाबले में अपने व्यवसाय से ही बाहर हो जाना पड़ेगा जो अपने बेशी मूल्य का ज्यादा से ज्यादा हिस्सा अपने बाजारों का विस्तार करने, अधिक से अधिक दक्षता वाली मशीनें लगाने आदि में खर्च करते हैं। पूंजीवाद की अराजकता से उत्पन्न प्रतियोगिता सारे पूंजीपतियों पर एक कठोर नियम थोप देती है : *विस्तार करो या नष्ट हो जाओ!*

पूंजीपति नयी मशीनरी में निवेश श्रम की उत्पादकता को बढ़ाने के लिए करता है। इससे उसके उत्पाद का मूल्य -- आवश्यक श्रमकाल -- उसके प्रतियोगियों के सामाजिक रूप से आवश्यक औसत श्रमकाल के मूल्य से नीचे चला आता है। वह अपने प्रतियोगियों के मुकाबले कम दामों पर अपने उत्पादों को बेच सकता है जबकि इसके बावजूद ये दाम उसके अपने उत्पादों के वास्तविक मूल्य से काफी ऊंचे ही रहते हैं। इस प्रकार वह अतिरिक्त बेशी मूल्य कमा लेता है। नतीजतन उसके प्रतियोगी भी मजबूर हो जाते हैं कि वे भी ऐसा ही नया तरीका अपनायें, या अपने सर्वनाश का जोखिम उठायें। जब वे भी नया तरीका अख्तियार कर लेते हैं, तब यह नया तरीका ही सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल का निर्धारण करने लगता है। तब विनिमय मूल्य गिरने लगता है, और अतिरिक्त बेशी मूल्य समाप्त हो जाता है।

इसी ढंग से, मशीनरी श्रम का विस्थापन करती है और "पूंजी का आवयविक संघटन" (अर्थात स्थिर पूंजी के मुकाबले परिवर्तनशील पूंजी का अनुपात) बढ़ता जाता है। आज हम इसे "स्वचालन" कहते हैं। इसके फलस्वरूप या तो खानों, बन्दरगाहों आदि में मजदूरों की संख्या पूरी तरह से घट सकती है या इसका प्रभाव नये मजदूरों की धीमी भर्ती या अपेक्षाकृत अधिक कठिन रोजगार के अवसर के रूप में दिखाई दे सकता है (जैसाकि अमेरिका में अल्पसंख्यक युवा समुदायों में आसमान छूती बेरोजगारी के रूप में दिखायी दे रहा है)।

आवयविक संघटन में यह बढ़ोत्तरी -- जिसका मतलब है अलग-अलग पूंजीपति के यहां कार्यस्थल के संगठन में बढ़ोत्तरी -- समाज में उत्पादन की अराजकता को आमतौर पर तीव्र कर देती है। नतीजा यह होता है कि स्थिर पूंजी

-- अर्थात उजरतों के अनुपात में गिरावट आती जाती है, और तब अपने मुनाफे की दर को बनाये रखने के लिए पूंजीपतियों को उत्पादन पर अंकुश लगाने की जरूरत पड़ने लगती है।

तब लगातार उत्पादन बढ़ाते जाने की प्रवृत्ति (जो कि पूंजीवाद की एक विशेषता के तौर पर इस तथ्य से पैदा हुई थी कि पूंजीवाद समाजीकृत श्रम की उत्पादकता को निर्बन्ध रूप से खोल देता है) पूंजी की एक वैसी ही इस अनिवार्य विशेषता के विरोध में पड़ने लगती है कि उत्पादन केवल तभी आगे बढ़ सकता है जब वह *मुनाफा देने वाली* हो। इस प्रकार पूंजीवाद के सारतत्व के भीतर ही इसके द्वारा उत्पन्न उत्पादन की नयी शक्तियों (प्रथमतः समाजीकृत श्रम) और इस तथ्य के बीच एक अन्तरविरोध है कि उत्पादन के लाभ निजी तौर पर विनियोजित किये जाते हैं (जिसका निहितार्थ यह है कि यदि पूंजीपति अपने उत्पादन से मुनाफा न कमा सकें तो सामान्यतः वे कुछ भी नहीं पैदा करेंगे)। पूंजीवादी संकटों के दौरान यह अन्तरविरोध अपने सर्वाधिक पाशविक और भौंडे रूप में प्रकट होता है : लोग भूखों मरने लगते हैं, परन्तु इसका कारण यह नहीं होता कि खाने भर का पर्याप्त भोजन नहीं है, बल्कि इसका कारण तो इसकी अतिशयता ही होता है, देश बर्बाद हो जाता है, लेकिन इसका कारण उत्पादन के अभाव में नहीं बल्कि इस तथ्य में निहित होता है कि जो विराट सम्पदा पैदा हो चुकी होती है उसे *पूंजी* में तब्दील कर पाना सम्भव नहीं रह जाता -- कारण कि उसे मुनाफे पर बेचना सम्भव नहीं हो पाता।

पहले प्रतियोगिता वाले पूंजीवाद के अन्तर्गत संकटों का परिणाम यह होता था कि अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली पूंजीपति रास्ते से हटा दिये जाते थे और पूंजी के संचय की गति तीव्र हो जाती थी। लेकिन यहां भी, जैसा कि मार्क्स बताते हैं, ''बुर्जुआ वर्ग इन संकटों से कैसे निजात पाता है? एक तरफ, भारी पैमाने पर उत्पादक शक्तियों का बलपूर्वक विनाश करके, और दूसरी तरफ, नये-नये बाजारों पर कब्जा करके, तथा पुराने बाजारों का और विधिवत शोषण करके। या यों कह लें कि और अधिक व्यापक तथा और अधिक विनाशकारी संकटों का मार्ग प्रशस्त करके, और उन साधनों को ही नष्ट करके जिनके द्वारा इन संकटों से बचा जा सकता है।'' (*कम्युनिस्ट घोषणापत्र*)

साम्राज्यवाद के उदय के साथ पूंजीवाद की सड़न निरन्तर बढ़ती ही गयी है। हालांकि इसके संकटों की बारम्बारता और आवर्तिता कम है, लेकिन जब इनके झटके आते हैं तो बहुत तेज आते हैं। और जैसा कि मार्क्स ने बताया है, इनसे निजात पाने के उपाय -- यानी उत्पादक शक्तियों का विनाश और बाजारों पर कब्जा -- एक ऐसे विश्व में अपनाये जाते हैं जो पहले ही से इन साम्राज्यवादी डाकुओं के बीच बंट चुका होता है। इस प्रकार विश्व को फिर से बांटने के लिए युद्ध अन्तरराष्ट्रीय पूंजीवाद की नियमित कार्यप्रणाली का एक अंग बन जाता है।

जैसे-जैसे पूंजी के संचय की गति तीव्र होती जाती है, वैसे-वैसे पूंजी थोड़े से व्यक्तिगत पूंजीपतियों के हाथों में केन्द्रित होती जाती है। पूंजी के ये अधिकाधिक संचय और भी बड़ी-बड़ी उत्पादक कार्रवाइयों, अधिक उन्नत मशीनरी आदि के विकास को सम्भव और आवश्यक बना देते हैं, और इस प्रकार यह दुश्चक्र उच्च से उच्चतर स्तर की ओर बढ़ता जाता है। यह प्रक्रिया तब और भी तेज रफ्तार पकड़ लेती है जब पहले से ही मौजूद पूंजियों का संकेन्द्रण हजारों छोटे पूंजीपतियों के प्रतियोगिता भरे संघर्ष में रौंद दिये जाने और बड़े पूंजीपतियों द्वारा लील लिये जाने तथा बिखरी हुई पूंजियों के दैत्याकार कारपोरेशनों में विलीन हो जाने की बदौलत बढ़ जाता है। यह प्रक्रिया बड़े पैमाने पर अमेरिका में प्रदर्शित हो चुकी है, जहां 1968 तक 200 सबसे बड़े मैन्युफैक्चरिंग कारपोरेशनों के हाथ में मैन्युफैक्चरिंग परिसम्पत्तियों का 60% से अधिक भाग आ चुका था।

इस प्रकार पूंजीवाद के विकास का आलम यह है कि पूंजीपति लाखों मजदूरों को दुनिया भर की विशाल फैक्टरियों में काम पर लगा देते हैं, जो इतनी भौतिक सम्पदा पैदा करते हैं कि पहले की दुनिया ने कभी इसका सपना भी नहीं देखा था। लेकिन इसी के साथ पूंजी, जो इन विराट उत्पादक शक्तियों का नियंत्रण कर रही है, बहुत थोड़े से आधुनिक अति-परजीवियों के हाथों में केन्द्रित होती जाती है। फलतः सामाजिक उत्पादन और निजी संचय के बीच अन्तरविरोध तीखा होता जाता है -- और इस सदी के आरम्भिक वर्षों में इस संकेन्द्रण ने छलांग लगाकर पूंजीवाद की अन्तिम अवस्था : साम्राज्यवाद की मंजिल में प्रवेश कर लिया था।

लेनिन द्वारा विश्लेषित पूंजीवाद की बुनियादी विशेषताएं

साम्राज्यवाद पूरी तरह से मार्क्स की मृत्यु के बाद विकसित हुआ। साम्राज्यवाद के युग के आविर्भाव और अन्तरराष्ट्रीय मजदूर वर्ग के संघर्ष के लिए उसकी अर्थवत्ता का विश्लेषण करने का कार्यभार **लेनिन** के ही कंधों पर आया।

''साम्राज्यवाद विकास की उस मंजिल का पूंजीवाद है जिसमें इजारेदारियां और वित्तीय पूंजी अपने आपको पूरी तरह स्थापित कर चुकी हैं; जिसमें पूंजी का निर्यात प्रमुख महत्व हासिल कर चुका है; जिसमें दुनिया का ट्रस्टों के बीच बंटवारा शुरू हो चुका है; जिसमें दुनिया के सभी क्षेत्रों का पूंजीवादी महाशक्तियों में बंटवारा पूरा हो चुका है।'' (*साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था*, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पृ. 106), अंग्रेजी से अनुवाद)

साम्राज्यवाद की सारभूत अभिलाक्षणिकता इजारेदारी का प्रभुत्व है, जो अपरिहार्यतः पूंजी के संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण की उन प्रवृत्तियों का परिणाम है जिनकी व्याख्या पीछे की जा चुकी है। आज जिस तरह मुट्ठीभर कारपोरेशन प्रत्येक उद्योग को नियंत्रित कर रहे हैं उससे इजारेदारी का नियंत्रण स्पष्ट हो जाता है, जनरल मोटर्स, फोर्ड और क्राइस्लर आटो के क्षेत्र में, एक्सन, मोबिल, शेल, बी.पी., टेक्साको, गल्फ, कैलीफोर्निया स्टैण्डर्ड और इण्डियाना स्टैण्डर्ड तेल के क्षेत्र में अपना एकाधिकार जमा चुके हैं, यही बात दूसरे क्षेत्रों में भी है।

लेकिन बड़े कारपोरेशनों का प्रभुत्व जितना देखने में लगता है, साम्राज्यवाद में इजारेदारी उससे कहीं अधिक हावी हो चुकी है। **लेनिन** ने इंगित किया है कि बैंकिंग पूंजी भी इजारेदारी के अधीन हो जाती है और साम्राज्यवाद के अन्तर्गत पहले से कहीं अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगती है।

''...पूंजी का संकेन्द्रण और बैंकिंग कारोबार की बढ़ोत्तरी से बैंकों का महत्व आमूलचूल बदलता जा रहा है। बिखरे हुए पूंजीपति एक समष्टिगत पूंजीपति के रूप में तब्दील होते जा रहे हैं। ऐसा लगता है जैसे एक बैंक कुछेक पूंजीपतियों के चालू खातों का संचालन करते हुए शुद्धतः तकनीकी और नितान्त गौण कार्य कर रहा होता है। लेकिन जब ये ही कार्य बहुत बढ़ जाते हैं तो हम देखते हैं कि मुट्ठीभर इजारेदार पूरे पूंजीवादी समाज -- वाणिज्यिक और औद्योगिक दोनों ही क्षेत्रों की सारी कार्रवाइयों को अपनी मर्जी के अधीन कर लेते हैं, इसका कारण यह है कि वे अपने बैंकिंग सम्बन्धों, अपने चालू खातों और दूसरे वित्तीय संचालनों के जरिये पहले तो *ठीक-ठीक यह जान लेने का अवसर* पा जाते हैं कि विभिन्न पूंजीपतियों की वित्तीय स्थिति क्या है, और फिर

उसके बाद वे उन्हें नियंत्रित करने, ऋणों को प्रतिबन्धित या विस्तारित करके, ऋणों की सुविधा प्रदान करके या उनमें बाधाएं उत्पन्न करके उन्हें प्रभावित करने का मौका पा जाते हैं, और इस तरह वे अन्ततः उनकी *किस्मत को पूरी तरह निर्धारित* करने लगते हैं, वे उनकी आय का निर्धारण करने लगते हैं, उन्हें पूंजी से वंचित या अपनी पूंजी को तेजी से और बड़े पैमाने पर बढ़ा लेने की अनुमति देने का काम करने लगते हैं।'' (*वही*, पृ. 37)।

इन सब बातों के तेजी से बढ़ते जाने का नतीजा यह होता है कि प्रभावी औद्योगिक और बैंकिंग पूंजियां धीरे-धीरे *वित्तीय पूंजी* में विलीन होने लगती हैं -- इस तरह पूंजी की बड़ी-बड़ी राशियां मुट्ठीभर इजारेदाराना गुटों के अधीन हो जाती हैं जिनके सम्बन्ध सूत्र प्रत्येक उद्योग में और दुनिया के हर कोने तक स्थापित हो जाते हैं। इसी को लेनिन ने वित्तीय अल्पतंत्र कहा है। यह एक बहुत बड़े पैमाने की परजीविता है।

उदाहरण के तौर पर, अमेरिका में 1968 तक 18 वित्तीय समूहों के नियंत्रण में कुल 678.4 अरब डालर की पूंजीगत परिसम्पत्ति थी। यदि हम रॉकफेलर परिवार का उदाहरण लें, तो पायेंगे कि यह परिवार जिसकी हैसियत 20 अरब डालर से अधिक है, दुनिया के सबसे बड़े कारपोरेशनों का नियंत्रण करता है। इसी तरह एक्सान, चेज़ मैनहट्टन बैंक (जो कि सबसे बड़े बैंकों में से एक है), तथा अन्य आधे दर्जन बैंक और बीमा कम्पनियों के साथ-साथ अमेरिका के 200 औद्योगिक उद्यमों में से 30 चोटी के उद्यम भी हैं।

साम्राज्यवाद का मतलब है उत्पादक शक्तियों का, इजारेदारी से पहले के पूंजीवाद के मुकाबले कहीं अधिक ऊंचे स्तर का समाजीकरण। अब इसके अन्तर्गत उत्पादन अत्यन्त केन्द्रीकृत हो जाता है, सारी दुनिया के कच्चे मालों और बाजारों का सर्वेक्षण और आकलन किया जाता है, तथा अब उत्पादन का संयोजन केवल एक ही कारखाने में नहीं, बल्कि दुनिया के सभी हिस्सों में किया जाने लगता है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि इससे समाजवाद का विकास हो रहा होता है।

''उत्पादन सामाजिक हो जाता है परन्तु विनियोजन निजी ही बना रहता है। उत्पादन के सामाजिक साधन कुछेक की निजी सम्पत्ति बने रहते हैं। औपचारिक रूप से स्वीकृत स्वतंत्र प्रतियोगिता का ढांचा तो बरकरार रहता है, परन्तु थोड़े से इजारेदारों का शेष आबादी पर जुवा सैकड़ों गुना भारी, बोझिल और असहय हो उठता है।'' (*वही*, पृ. 25)

ऐसी स्थिति में समाजीकरण और अराजकता के बीच अन्तरविरोध कम नहीं बल्कि और भी प्रचण्ड हो उठता है। अब यह अन्तरविरोध -- अपने दोनों ही पहलुओं में -- विश्वव्यापी बन जाता है। मिसाल के तौर पर, ज्यादा से ज्यादा मुनाफा बटोर लेने की अनवरत हवस में एक स्थान पर उत्पादन बन्द करके, दूसरे अधिक मुनाफादायी क्षेत्र में निवेश किया जाने लगता है। इजारेदारी प्रतियोगिता को खत्म नहीं करती -- बल्कि यह उसे एक उच्चतर स्तर में रूपान्तरित कर देती है। यह रूपान्तरण सिर्फ इजारेदार और गैर-इजारेदार पूंजीपतियों के बीच की प्रतियोगियता का ही नहीं होता, बल्कि इससे भी अधिक उल्लेखनीय रूप से वित्तीय पूंजी के बड़े-बड़े धड़ों के बीच बाजारों, कच्चे मालों, दामों और निवेश के क्षेत्रों आदि को लेकर चलने आपसी द्वंद्व में भी परिलक्षित होता है।

पूंजी का निर्यात

पुराने पूंजीवाद की खासियत यह थी कि मुक्त प्रतियोगिता का क्षेत्र अविभाजित था और *मालों* का ही निर्यात होता था। परन्तु पूंजीवाद की इस ताजा अवस्था की खासियत यह है कि इसमें इजारेदारों का शासन है, और *पूंजी* का निर्यात होता है। साम्राज्यवाद के विकास के साथ साम्राज्यवादी देशों में पूंजी की एक भारी बेशी राशि पैदा होने लगती है -- यह बेशी इस अर्थ में है कि इजारेदाराना नियंत्रण और घरेलू बाजारों के संतृप्त हो जाने के कारण अब स्वदेश में पूंजी निवेश *मुनाफादायी* नहीं रह जाता, और आर्थिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों में अत्यधिक मुनाफादायी निवेश के अवसर पूंजी को चुम्बक की भांति खींचने लगते हैं।

जैसा कि **लेनिन** ने लिखा, ''इन पिछड़े देशों में मुनाफा असाधारण रूप से बहुत अधिक होता है, क्योंकि वहां पूंजी का अभाव होता है, जमीन के दाम अपेक्षतया कम होते हैं, मजदूरी कम होती है, और कच्चे माल सस्ते मिल जाते हैं। और पूंजी के निर्यात की संभावना इस तथ्य से पैदा हो जाती है कि तमाम पिछड़े देश पहले ही से विश्व पूंजीवादी संसर्ग में आ चुके होते हैं या बन रहे होते हैं, तथा औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक दशाएं आदि विकसित हो चुकी होती हैं। पूंजी के निर्यात की आवश्यकता इस तथ्य से पैदा हो जाती है कि कुछेक देशों में पूंजीवाद 'अतिपरिपक्व' हो चुका होता है, जिसके नाते वहां और 'मुनाफादायी' निवेश की गुंजाइश नहीं रह जाती।'' (*वही*, पृ. 73-74)

साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था में पूंजी के निर्यात के अधिकाधिक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करते जाने के साथ-साथ वित्तीय पूंजी के विविध धड़े दुनिया का बंटवारा करते जाते हैं, और हरेक धड़ा अपना ही विश्वव्यापी साम्राज्य खड़ा करने, उसे बचाने और विस्तारित करने में लग जाता है। निश्चय ही ऐसा बंटवारा उन बदलते गठबंधनों और उन युद्धों से कहीं दसियों गुना अधिक गलाकाटू होता है जिनमें अपराधी परिवार तभी लिप्त होते हैं जब वे लूट के बंटवारे पर बातचीत कर रहे होते हैं, जिसका कारण यह होता है कि उनका काफी कुछ दांव पर लगा होता है।

इस बंटवारे के समानान्तर और इसी से उत्पन्न एक दूसरा बंटवारा स्वयं साम्राज्यवादी महाशक्तियों के बीच भी होने लगता है। हरेक साम्राज्यवादी सरकार अपने प्रमुख नियंत्रणकारी बुर्जुआ वर्ग के अन्तरराष्ट्रीय हितों की हिफाजत की कार्रवाइयां करने लगती हैं।

साम्राज्यवाद पहले तो दुनिया को उत्पीड़क और उत्पीड़ित राष्ट्रों में -- अर्थात साम्राज्यवादी शक्तियों और उन आर्थिक रूप से पिछड़े देशों के बीच बंटवारा कर देता है जिन्हें ये साम्राज्यवादी शक्तियां शोषित करतीं और उन पर अपना प्रभुत्व जमाती हैं। साम्राज्यवादी इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर कब्जा करके उन्हें विकृत कर डालते हैं, उनके देशी उद्योगों और कृषि को तबाह कर देते हैं, उन्हें अपनी साम्राज्यवादी आवश्यकताओं के वशीभूत कर लेते हैं, उनके कच्चे मालों और उनके स्रोत-संसाधनों को लूट लेते हैं, तथा उनकी जनता को क्रूर कंगालीकरण की चक्की में पीस डालते हैं -- जिसका नतीजा एक तरफ यह होता है कि वहां बेशुमार बेरोजगारी का आलम छा जाता है, और दूसरी तरफ, आत्यंतिक शोषण का कहर बरपा होने लगता है। 1973 में एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका में अकेले अमेरिका का प्रत्यक्ष निवेश लगभग 28 अरब डालर के बराबर था, जिससे होने वाली आमदनी उसके औसत घरेलू निवेशों की आय की लगभग छह गुनी थी।

लेकिन साम्राज्यवादी दुनिया के बंटवारे को लेकर आपस में भी लड़ते हैं। भिन्न-भिन्न साम्राज्यवादी शक्तियां अपने प्रतिद्वंद्वियों को पछाड़ कर विस्तार करने की कोशिशें करती रहती हैं। उनके विपुल उत्पादनशील संसाधन मानवता की प्रगति के आधार नहीं बनते, बल्कि विश्वयुद्ध के आधार बन जाते हैं।

पूंजीवाद के अन्तरविरोध अब वैश्विक

पैमाने पर व्याप्त हो चुके हैं। अब ये साम्राज्यवादी शक्तियां सैन्य-आयुधों के भारी जखीरे रख रही है ताकि उत्पीड़ित देशों में उठ खड़े होने वाले प्रतिरोधों और विद्रोहों का दमन किया जा सके। अब वे आपस में इस बात को लेकर लड़ रहे हैं कि वैश्विक लूट का कितना हिस्सा किसको मिलेगा।

युद्ध और क्रान्ति

साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच दुनिया का बंटवारा स्थायी नहीं रह सकता और रहता भी नहीं। कुछ शक्तियां तेजी से बाधाओं को पार कर जाती हैं, कुछ किसी न किसी कारण से तेजी से पतनशील होने लगती हैं, कुछेक और ताकतवर बन जाती हैं, उनकी अर्थव्यवस्थाएं अपने पतनशील प्रतिद्वंद्वियों के मुकाबले, छलांग लगाकर आगे बढ़ती हैं। लेकिन एक बिन्दु ऐसा आ ही जाता है जब दुनिया का बंटवारा विभिन्न शक्तियों की सापेक्षिक सामर्थ्य से तनिक भी मेल नहीं खाता।

लेकिन दुनिया का फिर से बंटवारा सीधे-सादे ढंग से और शांतिपूर्ण समझौतों से नहीं हो सकता -- सब कुछ दांव पर लगा जो होता है। यही कारण है कि इस शताब्दी में दो विश्वयुद्ध लड़े जा चुके हैं और तीसरा मंडरा रहा है। एक युद्ध से दूसरे युद्ध की ओर यह सर्पिल गति भिन्न-भिन्न पूंजीवादी देशों की अर्थव्यवस्थाओं के विकास और संकटों की नियतियां तय करती रहती हैं। ये साम्राज्यवादी युद्ध जो दुनिया को फिर से बांटने के लिए होते हैं, शक्तियों के संतुलन को अन्तरराष्ट्रीय पैमाने पर बदल कर पूंजी का पुनस्संगठन करते हैं। आर्थिक संकट और खून-खराबे से अभिचिन्हित में साम्राज्यवादी युद्ध पूंजीवाद की आपराधिक विद्रूपता और विनाशग्रस्त प्रकृति को ही दर्शाते हैं। जैसाकि **लेनिन** ने कहा है, ''सारे संकटों का सबसे बड़ा महत्व यह है कि वे उस सच्चाई को प्रकट कर देते हैं जो अब तक छिपी हुई होती है, वे उन सारी चीजों को किनारे कर देते हैं जो सापेक्षिक और सतही होती हैं और *वर्ग-संघर्ष* के असली मुख्यस्रोतों को उजागर कर देते हैं।'' (*लेसन आफ दि क्राइसिस*, खण्ड 24, पृ. 213)।

सर्वहारा क्रान्ति का युग

चूंकि साम्राज्यवाद पूंजीवाद के अन्तरविरोधों को विश्वव्यापी तौर पर तीखा कर देता है, इसीलिए यह युग सर्वहारा क्रान्ति का युग है।

विश्व अर्थव्यवस्था अत्यधिक समाजीकृत हो चुकी है, परन्तु यह समाजीकरण एक सड़ी हुई परजीविताभरी खोल के भीतर ही हो रहा है, और समूची दुनिया की सम्पदा अब मुट्ठीभर दैत्याकार धनलोलुपों की तिजोरियों की ओर ही प्रवाहित हो रही है। प्रमुख साम्राज्यवादी देशों में इसका परिणाम यह हुआ है कि अर्थव्यवस्था के भारी हिस्से वित्त, ऋण और सट्टेबाजी आदि के हवाले हो चुके हैं। एक विराट सरकारी नौकरशाही और सैन्य मशीनरी खड़ी की जा चुकी है -- जो विश्वभर की जनता की हड्डियां निचोड़ कर ही खड़ी की गयी हैं। और यह बेतहाशा लूट पूंजीपतियों को यह सुविधा भी मुहैया कर देती है कि वे अपनी लूट की दावत में से कुछ जूठन मजदूर वर्ग के एक छोटे से हिस्से को देकर उन्हें गुमराह कर लें और इस तरह वे एक वर्ग चेतन मजदूर आन्दोलन के विकास में रोड़े बन जायें। लेकिन इसके बावजूद उनका मुख्य प्रयास मजदूरों की भारी तादाद को पीस डालने का ही होता है (जैसा कि, खासतौर से, साम्राज्यवादी युद्ध में उन्हें ही गोलीबारी का निशाना बनने के लिए तैयार रहना पड़ता है)। इसके अतिरिक्त, लूट विश्व के उत्पीड़ित राष्ट्रों में क्रान्तिकारी संघर्ष के तूफानों को भी जन्म देती है।

खासतौर से, जब साम्राज्यवाद युद्ध की दिशा में डग भरता है, तब इसके अन्तरविरोधों का तीखापन और भी प्रचण्ड हो जाता है। जैसाकि **स्तालिन** ने लिखा है,

''साम्राज्यवादी युद्ध का महत्व....अन्य बातों के अतिरिक्त इस तथ्य में निहित है कि इसने इन सारे अन्तरविरोधों को एक ही गांठ में उलझा कर व्यापक पैमाने पर फैला दिया, और इस तरह सर्वहारा के क्रान्तिकारी संघर्षों को तेज करते जाने की परिस्थितियां तैयार कर दीं।'' (*फाउण्डेशन्स आफ लेनिनिज्म*)

ऐसे क्रान्तिकारी संघर्ष साम्राज्यवाद के पूरे दौर में फूटते रहेंगे, जो दुनिया के बंटवारे, फिर से बंटवारे, युद्ध और क्रान्ति की सर्पिल गतियों के साथ तब तक तीखे होते जायेंगे जबतक कि सर्वहारा और उसके सहयोगी वर्ग शोषण को हमेशा-हमेशा के लिए मिटा नहीं देते, और साम्राज्यवादी उत्पीड़न के खूंखार दानव को दुनिया से खदेड़ करके इतिहास के पन्नों में दफन नहीं कर देते।

राजनीतिक अर्थशास्त्र पर कुछ पठनीय साहित्य

मार्क्स, मजदूरी, दाम और मुनाफा

लेनिन, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था, विशेषकर अध्याय 7-10

अन्य पठनीय साहित्य

मार्क्स, पूंजी, खण्ड 1

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (शंघाई टेक्स्ट बुक)

अनुवाद : **वि. मि.**

''हमारे युग में हर वस्तु अपने गर्भ में अपना विपरीत गुण धारण किये हुए प्रतीत होती है। हम देख रहे हैं कि मानव श्रम को कम करने और उसे फलदायी बनाने की अद्भुत शक्ति से सम्पन्न मशीनें लोगों को भूखों मार रही हैं, उन्हें थकाकर चूर कर रही हैं। दौलत के नूतन स्रोतों को किसी अजीब टोना -जादू के जरिए अभाव के स्रोतों में परिणत किया जा रहा है। तकनीक की विजयें चरित्र के पतन से खरीदी जाती हैं, और लगता है कि जैसे-जैसे मनुष्य प्रकृति को विजित करता जाता जाता है, वैसे-वैसे वह दूसरे लोगों का अथवा अपनी ही नीचता का दास बनता जाता है। विज्ञान का शुद्ध प्रकाश तक अज्ञान की अंधेरी पार्श्वभूमि के अलावा और कहीं आलोकित होने में असमर्थ प्रतीत होता है। हमारे सारे आविष्कारों तथा प्रकृति का यही फल निकलता प्रतीत होता है कि भौतिक शक्तियों को बौद्धिक जीवन प्रदान किया जा रहा है तथा मानव जीवन को प्रभावहीन बनाकर भौतिक शक्ति बनाया जा रहा है।''

— **कार्ल मार्क्स** ('पीपुल्स पेपर' की जयन्ती पर भाषण से)

विज्ञान, कला और अधिरचना

एमिल बर्न्स

राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना की भूमिका में **मार्क्स** अपने निष्कर्षों का समाहार निम्नलिखित वाक्यों में करते हैं :

1. "मनुष्य जो सामाजिक उत्पादन करते हैं उसके तहत वे ऐसे निश्चित सम्बन्धों में प्रवेश कर जाते हैं जो अपरिहार्य और उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं; उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन की उनकी भौतिक शक्तियों के विकास के एक निश्चित चरण के अनुरूप होते हैं।"

2. "उत्पादन के इन सम्बन्धों का कुल योग ही समाज का आर्थिक ढांचा -वह वास्तविक आधार निर्मित करता है, जिसके ऊपर एक वैधिक और राजनीतिक अधिरचना उठ खड़ी होती है और उसी के अनुरूप सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं।"

3. "भौतिक जीवन में उत्पादन-प्रणाली ही आमतौर पर सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की प्रक्रियाओं का निर्धारण करती है। यह मनुष्यों की चेतना नहीं है, जो उनके अस्तित्व का निर्धारण करती है, बल्कि इसके विपरीत, यह तो उनका सामाजिक अस्तित्व है जो उनकी चेतना का निर्धारण करता है।"

इस प्रकार, हम देखते हैं : 1. उत्पादन की शक्तियां -- इनमें शामिल हैं : *उत्पादन के औजार*, और *लोग* जो अपने *श्रम-अनुभव* और *कौशल* से इनका इस्तेमाल करते हैं, 2. उत्पादन के सम्बन्ध -- सम्पत्ति-सम्बन्ध या वर्ग-सम्बन्ध -- ये ही प्रत्येक चरण में समाज का आर्थिक ढांचा गठित करते हैं; यही वह "मूलाधार" है जिसके ऊपर 3. प्रत्येक चरण की "अधिरचना" -- धारणाएं, दृष्टिकोण और सामाजिक संस्थाएं -- निर्मित होती है; 4. उत्पादन-प्रणाली (पूंजीवाद, समाजवाद), जिसके अन्तर्गत उत्पादन की *शक्तियां* और उत्पादन के *सम्बन्ध*, दोनों ही शामिल हैं; यही "आमतौर पर सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की प्रक्रियाओं का निर्धारण करती है।"

भाषा-शास्त्र सम्बन्धी अपने कथनों में स्तालिन यह दर्शाते हैं कि भाषा को न तो मूलाधारों या अधिरचनाओं की कोटि में रखा जा सकता है, और न ही यह कोई "मध्यवर्ती" परिघटना है ("कारण कि ऐसी "मध्यवर्ती परिघटनाओं का कोई अस्तित्व नहीं है"), इसी प्रकार इसे उत्पादन के औजारों की कोटि में भी नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः यह एक भिन्न प्रकार की सामाजिक परिघटना है जो मार्क्स द्वारा गिनाई गयी कोटियों में नहीं आती।

इसीलिए यह सवाल उठाया जाता रहा है कि क्या ऐसी अन्य सामाजिक परिघटनाएं भी हैं जो इन कोटियों में शामिल नहीं हैं, और कि खासतौर से विज्ञान की अवस्थिति किसमें है, साथ ही, ये सवाल भी उठाये जाते रहे हैं कि कला का स्थान कहां है।

प्रस्तुत आलेख ऐसी समस्याओं में से कुछेक को रेखांकित करने और कुछेक ऐसे विचार सुझाने का एक प्रयास है जो किसी भी भावी विचार-विमर्श के लिए उपयोगी हो सकता है।

मार्क्सवाद और भाषा-शास्त्र की समस्याएं पुस्तक में **स्तालिन** यह बताते हैं कि सभी सामाजिक परिघटनाएं, समाज की सेवा करने के अतिरिक्त, "अपनी-अपनी निजी विशिष्टताएं रखती हैं जो एक-दूसरे से भिन्न होती हैं", जैसाकि **मौरिस कोर्नफोर्थ** ने उल्लेख किया है, स्तालिन का भाषा-सम्बन्धी पहुंच-प्रयास मनमाना नहीं है -- कि उसे आवश्यक रूप से मूलाधार या अधिरचना से जोड़ दें -- बल्कि "उसे उसी रूप में, उसके वास्तविक विकास को, उसकी वास्तविक सामाजिक भूमिका को" समझने के बारे में है।

यदि हम इस ढंग से विज्ञान के बारे में पहुंच-प्रयास करें, तो **भौतिकवाद और अनुभववादी आलोचना** पुस्तक में **लेनिन** का कथन सम्पूर्ण वास्तविक विज्ञान के बारे में एक महत्वपूर्ण विशिष्टता की ओर इंगित करता है :

"हमें कब और किन परिस्थितियों में चीजों की मूलभूत प्रकृति के बारे में, कोलतार में एलिजरीन की खोज के बारे में, या परमाणु में इलेक्ट्रान की खोज के बारे में ज्ञान प्राप्त हुआ, यह सबकुछ ऐतिहासिक रूप से शर्तबन्द था, लेकिन यह कि ऐसी प्रत्येक खोज जो 'निरपेक्षतः वस्तुगत ज्ञान' में एक अग्रवर्ती विकास होती है, शर्तबन्द नहीं होती। संक्षेप में, प्रत्येक विचारधारा ऐतिहासिक रूप से शर्तबन्द तो होती है, लेकिन यह एक निरपेक्ष सच्चाई है कि प्रत्येक वैज्ञानिक विचारधारा (जो कि, उदाहरण के लिए, धार्मिक विचारधारा से स्पष्टतः भिन्न होती है) के अनुरूप एक वस्तुगत सच्चाई, निरपेक्ष प्रकृति भी होती है।"

इस प्रकार विज्ञान एक सामाजिक उत्पाद है जिसके अनुरूप ही वस्तुगत सच्चाई, प्रकृति और प्रकृति नियम होते हैं। यह प्रकृति का एक क्रमबद्ध ज्ञान है जो मनुष्य के हित के लिए प्रकृति को बदलने हेतु व्यवहार में इस्तेमाल किया जाता है (क्योंकि ज्ञान और व्यवहार साथ-साथ चलते हैं और साथ ही साथ विकसित होते हैं)। प्रकृति का यह ज्ञान और इसका व्यवहार में इस्तेमाल मानव-समाज के सभी चरणों में सामाजिक उत्पादन के साथ घनिष्ठतापूर्वक जुड़े होते हैं, और खासतौर से इसी के जरिए, प्राकृतिक विज्ञान उत्पन्न और विकसित होते हैं। इस "निरपेक्षतः वस्तुगत ज्ञान" में सतत वृद्धि होती रहती है, जिसके बारे में लेनिन लिख चुके हैं, और ज्ञान की यह राशि समाज के एक चरण से

दूसरे चरण में संक्रमित होती रहती है तथा प्रत्येक उत्तरवर्ती चरण में काम आती है।

यह सच है कि प्रकृति के ज्ञान में प्रत्येक वृद्धि, एक मायने में सापेक्षिक होती है, कारण कि विज्ञान का उत्तरोत्तर विकास सतत नये ज्ञान को पहले से ''ज्ञात तथ्य'' के साथ जोड़ते हुए, ''निरपेक्षतः वस्तुगत ज्ञान'' की मौजूद राशि को परिवर्द्धित, गुण-वर्द्धित या विस्तारित करता रहता है। (इस बात को **एंगेल्स 'ड्यूहरिंग मतखण्डन'** पुस्तक में, बॉयल के नियम का हवाला देकर बता चुके हैं)। लेकिन इन सबके बावजूद, प्रकृति के ज्ञान में निरन्तर प्रगति होती रहती है, और यह संचित ज्ञान समाज के सभी उत्तरवर्ती चरणों को विरासत में प्राप्त होता रहता है।

इस मामले में -- अर्थात उत्पादन की विभिन्न प्रणालियों से होकर निरन्तर जारी रहने के मामले में -- ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञान उत्पादक शक्तियों से कुछ समानता रखता है। सामाजिक उत्पादन के जरिये प्राकृतिक विज्ञानों का विकास, और खासतौर से आधुनिक काल में उत्पादन के औजारों और तकनीकों के विकास के साथ का जुड़ाव यह इंगित करता है कि विज्ञान (या कम से कम कुछ विज्ञान) उत्पादन की शक्तियों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि एक वैज्ञानिक को, एक कोटि विशेष के उसके समस्त श्रम-अनुभव और कौशल के साथ, एक कुशल मजदूर की भांति ही, उत्पादक शक्तियों के अन्तर्गत एक कारक के रूप में शामिल करना सही है।

यदि विज्ञान को केवल प्रकृति और प्राकृतिक नियमों के ज्ञान के ही अर्थ में नहीं, बल्कि व्यवहार, अर्थात ''वैज्ञानिक श्रम'' के भी अर्थ में भी लिया जाये, तो इसे उत्पादक शक्तियों के अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है। लेकिन यह एक भौतिक उत्पादक शक्ति नहीं है, गोकि, यह उत्पादन के औजारों के विकास में सहायक होता है।

एक चीज जो स्पष्ट प्रतीत होती है, वह यह है कि कुछ विज्ञान उत्पादन के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए है, जबकि दूसरे उतने घनिष्ठ रूप से नहीं जुड़े हुए हैं, और इनसे भी इतर विज्ञानों (उदाहरण के लिए, भाषा का विज्ञान या भाषा-शास्त्र) के सम्बन्ध में तो यह तय कर पाना ही कठिन है कि किस अर्थ में उन्हें उत्पादक शक्तियों के साथ वर्गीकृत किया जाये।

किसी भी तरह से, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि मूलाधार (समाज के प्रत्येक चरण में उत्पादक सम्बन्ध) विज्ञान पर सतत क्रियाशील रहते हुए, यह निर्धारित करता रहता है कि ''निरपेक्षत' वस्तुगत ज्ञान'' किस दिशा में विकास करे और कि वह उत्पादन में इस्तेमाल हो या न हो। पेटेण्ट कानून तथा पेटेण्टों की खरीद एवं रोक इस बात के स्पष्ट उदाहरण हैं कि कैसे व्यक्तिगत सम्पत्ति और इजारेदारी विज्ञान के अग्रवर्ती विकास को प्रभावित कर देती है, पश्चिमी जगत में परमाणु-अनुसंधान की दिशा इसी तरह का एक दूसरा सुपरिचित उदाहरण है। पूंजीवादी समाज के आरंभिक दौर में पूंजीवादी सम्पत्ति-सम्बन्ध उत्पादन के और विज्ञान के विकास में सहायक होते हैं; लेकिन पूंजीवाद के पतनशील चरण में पूंजीवादी सम्बन्धों का अवरोधी प्रभाव उत्पादन और विज्ञान दोनों ही में महसूस होने लगता है।

लेकिन उत्पादन-सम्बन्धों या वर्ग-सम्बन्धों या ''मूलाधार'' का विज्ञान पर इस तरह से प्रभाव केवल प्रत्यक्षतः ही नहीं पड़ता। मूलाधार के ऊपर उठ खड़ी होने वाली अधिरचना के अन्य भागों द्वारा, तथा खासतौर से सम्पत्तिशाली वर्ग के दर्शन और धार्मिक विचारधारा द्वारा विज्ञान अप्रत्यक्षतः भी प्रभावित होता है। धार्मिक विचारधारा और भाववादी दर्शन का भौतिकवादी दृष्टिकोण और व्यवहार के साथ हमेशा द्वंद्व चलता रहता है, जो कि ''निरपेक्षतः वस्तुगत ज्ञान'' को प्राप्त और क्रमबद्ध करने के लिए आवश्यक है। यह द्वंद्व जब दैनन्दिन जीवन में उत्पादन की तात्कालिक आवश्यकताओं के चलते दरकिनार कर दिया जाता है, तब यह उसी अनुपात में और भी मुखर होता जाता है जिस अनुपात में कि प्रत्येक विज्ञान के सामान्यीकरण अधिकाधिक अमूर्त, तथा प्रत्यक्ष प्रेक्षण और व्यवहार परीक्षण से अधिकाधिक दूर होते जाते हैं।

अतः विगत समाजों से विरासत में अथवा नये-नये प्राप्त ''निरपेक्षतः वस्तुगत ज्ञान'' के साथ घनिष्ठतापूर्वक अन्तर्ग्रथित एक वर्ग विभाजित समाज के अन्दर, किसी भी वास्तविक विज्ञान में सिद्धान्त, पहुंच प्रयास की पद्धतियां और दृष्टिकोण पाये जाते हैं, जो प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः उत्पादन-सम्बन्धों से उत्पन्ना होते हैं। वर्ग सम्बन्धों से उत्पन्न ऐसे सिद्धान्त और दृष्टिकोण अन्ततोगत्वा समाज के उस चरण विद्रेष में वर्गों के हितों और द्वंद्वों को ही अभिव्यक्त करते हैं, तथा वे प्रगतिशली या प्रतिक्रियावादी, समाज को आगे ले जाने में सहायक या बाधक और यहां तक कि किसी न किसी हद तक एकांगी, सीमित या मिथ्या भी हो सकते हैं।

मैं ''निरपेक्षतः वस्तुगत ज्ञान'' के साथ ''घनिष्ठतापूर्वक अन्तर्ग्रन्थित'' होने की बात इसलिए करता हूं कि विज्ञान की कोई भी सामान्य कोटि -- वैज्ञानिक विधि, परिकल्पनाएं, सिद्धान्त आदि -- मूलाधार और अधिरचना द्वारा प्रभावित होती है या नहं, यह बता सकना कठिन है। यथार्थ के प्रति प्रत्येक पहुंच प्रयास, और -- यदि **'व्यवहार के बारे में'** से **माओ त्से-तुङ** की उक्ति का प्रयोग करें तो -- खासतौर से, ''वस्तुओं के सारतत्व (दो वस्तुओं के गुणों और उनके बीच के आन्तरिक सम्बन्धों)'' के प्रति प्रत्येक दृष्टिकोण आवश्यक रूप से प्रचलित दार्शनिक दृष्टिकोण द्वारा प्रभावित होता है, जो स्पष्टतः व्यवहार को और इसीलिए प्रत्येक क्षेत्र-विशेष्ज्ञ में अग्रवर्ती वैज्ञानिक विकास की नीति को भी प्रभावित करेगा ही।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि एक वर्ग-समाज में ''निरपेक्षतः वस्तुगत ज्ञान'' का संचयन असम्भव है। इसके विपरीत, इस प्रकार का ज्ञान सभी समाजों में व्यवहार से जुड़ा होता है और उसी के द्वारा जांचा-परखा जाता है; इसके बिना कोई समाज न तो जिन्दा रह सकता है, और न ही विकास कर सकता है। जब हम ''बुर्जुआ विज्ञान'' की बात करते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि हम बुर्जुआ समाज की उन अपार वैज्ञानिक उपलब्धियों को कम करके आंकते हैं, जो वस्तुतः बड़े पैमाने पर ''समाजवादी विज्ञान'' के लिए प्रस्थान बिन्दु हैं।

इसके बजाय, हमारा आशय, विज्ञान के विशिष्ट क्षेत्रों के सम्बन्ध में, किसी न किसी हद तक, यह है कि बुर्जुआ विज्ञान की वास्तविक उपलब्धियां 1. विकास की दिशा और नीति के मामलों में उत्पादन-सम्बन्धों द्वारा प्रतिबंधिकत की जाती रही हैं, 2. विज्ञान के अन्य क्षेत्रों के साथ समेकन के अभाव में -- उदाहरण के लिए, संकीर्ण विशिष्टीकरण द्वारा एकांगी बना दी जाती रही हैं, और इसीलिए एक समन्वयकारी दर्शन न होने के कारण, अंधी गली की ओर ले जाती रही हैं, 3. बुर्जुआ समाज की आवश्यकताओं द्वारा सीमित कर दी जाती रही हैं -- उदाहरण के लिए, कृषि-जीव विज्ञान बुर्जुआ समाज में इस कारण विकसित न हो सका कि उसमें समस्या, जैसाकि हैमोल्ड ने युद्धों के बीच की अवधि के सम्बन्ध में इंगित किया है, अभावों के बजाय अति उत्पादन और अधिशेषों की थी, और यह पूरी तरह एक समाजवादी समाज में ही विकसित हो सका, क्योंकि उसे तो प्रचुरता की ही चाहत होती है; 4. अपने दार्शनिक पहुंच-प्रयास की बदौलत, अपने द्वारा पूंजीभूत, प्रतिबंधित ''निरपेक्षतः वस्तुगत ज्ञान'' -- उदाहरण के लिए, मेण्डल-मारगनवादी आनुवंशिकी; या एक-दूसरे

क्षेत्र, मनोविज्ञान, की अपनी व्याख्या में मिथ्या हैं; 5. मिथ्या हैं क्योंकि इनमें वर्ग-स्वार्थ सीधे हस्तक्षेप करते हैं और जानबूझकर विकृति पैदा करते हैं या यथार्थ को नजरअन्दाज कर जाते हैं, जैसाकि, खासतौर से, सामाजिक विज्ञानों के मामले में होता है।

बुर्जुआ काल में विकसित कोई विशिष्ट विज्ञान किस हद तक उत्पादन के वर्ग सम्बन्धों और वर्ग-दर्शन एवं इन वर्ग-सम्बन्धों से उत्पन्न अन्य अधिरचनात्मक अवयवों द्वारा प्रभावित होते हैं, इसे अमूर्तन में नहीं तय किया जा सकता। प्रथमतः तो यह तथ्य या व्यवहार में सबूत का सवाल है कि किस हद तक विज्ञान की कोई विशिष्ट ज्ञान राशि "निरपेक्षतः वस्तुगत ज्ञान" है। और दूसरा सवाल यह है कि क्या वह "निरपेक्षतः वस्तुगत ज्ञान" भी -- जो वर्ग समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ रहा हो -- समाज के एक नये रूप की आवश्यकताओं की दृष्टि से उपयुक्त है, या यह कि क्या इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इसमें कमोबेश पुनः एक मौलिक कार्य करने या विस्तार करने की आवश्यकता है।

तीसरा -- और अन्य सभी बातों को ध्यान में रखते हुए -- सवाल यह है कि किस हद तक प्रातिनिधिक बुर्जुआ यान्त्रिक, आधिभौतिक, भाववादी पहुंच-प्रयास ने यथार्थ को वास्तव में तोड़-मरोड़ देने, प्रतिबंधित करने या जानबूझ कर मिथ्या कर देने, और इस प्रकार "वस्तुओं के सारतत्व" के उस ज्ञान को बाधित करने का कार्य किया है, जिसे केवल एक द्वंद्वात्मक भौतकवादी पहुंच-प्रयास ही उद्घाटित कर सकता है। यह तो द्वंद्वात्मक भौतिकवादी पहुंच-प्रयास ही है जो समाजवादी समाज में की गयी नयी खोजों और की गयी सैद्धान्तिक प्रगतियों, दोनों ही है जो विज्ञान को पूर्णतः नये-नये कार्यभारों को हल करने में लगाता है।

बुर्जुआ विज्ञान के किन्हीं भी विशिष्ट क्षेत्रों की ऐसी जांच-पड़ताल में, एक दूसरा कारक, जिसे अवश्यक ही ध्यान में रखा जाना चाहिए, स्वयं बुर्जुआ समाज के विकास का वास्तविक चरण और उस अवधि में विज्ञान पर उसका प्रभाव है। सामन्ती विचारों के विरुद्ध बुर्जुआ संघर्ष में, भौतिकवादी दर्शन ने (अपनी सारी यांत्रिक सीमाओं के बावजूद) एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, और यह विज्ञान में एक नये पहुंच प्रयास और नयी खोजों के साथ सम्बद्ध था, जिसके चलते मनुष्य की उत्पादक शक्तियों में वह द्रुतगामी विकास हुआ कि वही पूंजीवाद के विकास का चरित्र निर्धारक बन गया। बाद में चलकर, और खासतौर से पूंजीवाद के इस एकाधिकारी चरण में, बुर्जुआ समाज के हित इस सांगोपांग भौतिकवादी पहुंच-प्रयास और उत्पादक शक्तियों के अनवरत विस्तार से सधने वाले नहीं रह जाते हैं; तब यह प्रभुत्वशाली दर्शन भाववाद में लौटने लगता है, भाववादी दृष्टिकोण विज्ञान के काफी क्षेत्रों में (न कि केवल सामाजिक विज्ञानों में) प्रवेश करने लगता है, और कूट विज्ञान की सारी शाखाएं (उदाहरण के लिए, "औद्योगिक मनोविज्ञान", "प्रतिभा परीक्षण") एकबारगी पैदा हो जाती हैं जिनका इरादा मेहनतकश वर्ग के विरुद्ध पूंजीपतियों के हितों की सेवा करना होता है।

ये बातें पूरे विज्ञान पर लागू होती प्रतीत होती हैं -- सामाजिक विज्ञानों के साथ-साथ प्राकृतिक विज्ञानों पर भी। सामाजिक विज्ञानों की विषय वस्तु मानव समाज है, जो प्रकृति का ही एक भाग है, और इसीलिए इस क्षेत्र में "निरपेक्षतः वस्तुगत ज्ञान" व्यवहार में सम्भव और आवश्यक है। फिर भी, एक वर्ग विभाजित समाज में वर्ग दृष्टिकोण, वर्ग दर्शन और वर्ग हित, वाह्य प्रकृति की जांच-पड़ताल की अपेक्षा, सामाजिक तथ्यों और नियमों की जांच-पड़ताल में, अधिक सीधे रूप में प्रकट होते हैं।

पूंजीवादी समाज के आरम्भिक विकासशील चरणों में, यथार्थ के प्रति पहुंच प्रयास की रुझान सचमुच वैज्ञानिक होती है, यहां तक कि सामाजिक विज्ञान में भी। पूंजीवाद के आरम्भिक राजनीतिक अर्थशास्त्रियों जैसे **एडम स्मिथ** और **रिकार्डो** ने अपने विषय का गहन अध्ययन किया था और सकारात्मक परिणाम प्राप्त किये थे, जिन्हें इस्तेमाल और विकसित करने में **मार्क्स** समर्थ हुए। मार्क्स स्वयं उनके "सच्चे वैज्ञानिक अनुसंधान" और उनके बाद के "असभ्य" अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रदर्शित "घटिया विवेक और पक्षपोषण के बुरे इरादे" के बीच अन्तर दिखाते हैं। और वह स्पष्ट करते हं कि ये उस वर्ग संघर्ष के "अधिकाधिक मुखर और धमकी भरे रूप" थे जिसने "वैज्ञानिक बुर्जुआ अर्थव्यवस्था की मृत्यु की घण्टी बजा दी थी।"

यह स्पष्ट है कि वर्तमान काल में वर्ग संघर्ष जैसे-जैसे अधिकाधिक तीखा होता जायेगा, वैसे-वैसे इस बात की समभावना भी कम से कमतर ही होती जायगी कि कोई बुर्जुआ सामाजिक विज्ञान अपने विषय में "सच्चा वैज्ञानिक अनुसंधान" इस्तेमाल करेगा, और यहां तक कि वह जो भी प्रतिबन्धित "तथ्य" एकत्र करेगा, वे सब के सब प्रभुत्वशाली वर्ग की सेवा में पक्षपोषण और पूर्णतया मिथ्यावर्णन करने के ही काम आयेंगे।

कला के क्षेत्र (संगीत, साहित्य) में, जिसे सामान्यवः अधिरचना का एक भाग माना जाता है, बिल्कुल भिन्न "अलग-अलग विशिष्टताएं" होती हैं। फिर भी, मुझे संदेह है कि "सुसंगति, अभिकल्पना, परिप्रेक्ष्य आदि" -- अर्थात *रूपों* या तकनीकों के नियम पृथक किये जा सकते हैं, और कि इन्हें "वर्गहीन", "गैर अधिरचनात्मक" मानना सम्भव हो सकता है, जबकि किसी भी विशिष्ट कलात्मक कार्य की *अन्तर्वस्तु* को "अधिरचनात्मक" ही स्वीकार किया जाता है।

यह सच है कि सुसंगति, आदि के ये नियम वस्तुगत यथार्थ के भाग होते हैं, लेकिन इस मायने में वे विज्ञान से सम्बन्धित हैं। संगीतज्ञ या कलाकार, या लेखक इन नियमों का इस्तेमाल वैसे ही करता है जैसे वह अपने समय के वाद्ययंत्रों, या रंगों, या टाइपराइटर का इस्तेमाल करता है। लेकिन वह जो कुछ रचता है वह एक कलात्मक कार्य होता है जिसकी एक निश्चित अन्तर्वस्तु होती है, जिसके लिए रूप और उपादान इसके वाहक होते हैं; और वह पूरी रचना मूलाधार, यानी वर्ग-सम्बन्धों से उठ खड़ी होने वाली अधिरचना का ही एक भाग होती है।

इसके साथ ही, यह देखना भी आवश्यक है कि, जैसे विज्ञान के मामले में, "बुर्जुआ विज्ञान" कहने का आशय बुर्जुआ काल में विकसित समूचे विज्ञान का पूर्ण तिरस्कार करना नहीं है, ठीक वैसे ही "बुर्जुआ कला" कहने का आशय भी बुर्जुआ काल के, या ("सर्वहारा" कलात्मक उत्पादों के विरोध में) बुर्जुआ वर्ग के सारे कलात्मक उत्पादों का पूर्ण तिरस्कार नहीं है। इस बिन्दु पर गलतफहमी कला के प्रति एक मतान्ध पहुंच प्रयास को जन्म दे सकती है, जो हमारी सम्पूर्ण सांस्कृतिक विरासत को दरकिनार कर देगी, और "सर्वहारा" कला के युग के आगमन की प्रतीक्षा करती रहेगी।

यद्यपि विज्ञान का प्रकृति के प्रति, यथार्थ के प्रति, एक विशिष्ट कार्यभार होता है, लेकिन कला का भी ऐसा ही कार्यभार है, हालांकि यह कार्यभार विज्ञान के कार्यभार से भिन्न है। 1934 में, सोवियत लेखकों के प्रथम सम्मेलन में दिये गये अपने भाषण में, **मक्सिम गोर्की** ने, आदिम और प्राचीन संस्कृति की चर्चा करते हुए कहा था कि यह "प्रकृति की, प्रकृति के साथ संघर्ष की, और सामाजिक जीवन की परिघटनाओं के व्यापक कलात्मक सामान्यीकरण के रूप में एक प्रतिबिम्बन है।" इस भाषण का एक दूसरा दिलचस्प अवतरण प्रस्तुत है :

"मिथक एक आविष्कार है। आविष्कार करने का अर्थ है एक दिये गये यथार्थ के कुल योग में से इसके मूलभूत विचार को निष्कासित करना तथा उसे बिम्बविधान में रूपायित करना -- ऐसे ही यथार्थवाद का जन्म हुआ। लेकिन यदि हम दिये गये यथार्थ से निष्कासित विचार में -- परिकल्पना के तर्क द्वारा इस विचार को पूर्ण बनाते हुए -- इच्छित को, सम्भव को जोड़ दें, और इस प्रकार बिम्ब को सम्पूरित कर दें, तब हमें वह स्वच्छन्दतावाद प्राप्त होता है जो मिथक का आधार बनता है और इस मायने में अत्यन्त उपयोगी हो जाता है कि यह यथार्थ के प्रति एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण, एक ऐसे दृष्टिकोण को उकसाने में प्रवृत्त हो जाता है जो एक व्यावहारिक तरीके से विश्व को बदल देता है।"

ये अवतरण कला के कम से कम कुछ कार्यभारों को प्रस्तुत करते हुए प्रतीत होते हैं: जैसे कि, एक मूलभूत विचार को निष्कर्षित कर उसे बिम्बविधान में रूपायित करने के द्वारा प्रकृति और सामाजिक जीवन को प्रतिबिम्बित करना। प्रगतिशील कला "एक ऐसे दृष्टिकोण" को उकसाकर "जो विश्व को बदल देता है", एक सकारात्मक बिम्बविधान का सृजन करती है।

इसका वैज्ञानिक परिकल्पनाओं से सादृश्य निरूपण स्पष्ट है, कल्पना मनुष्य की प्रत्येक प्रगति में एक भूमिका अदा करती है। मार्क्स को भी देखें (*पूंजी*, खण्ड 1, अध्याय VII, अनुभाग 1): "एक सबसे घटिया वास्तुकार और एक सबसे कुशल मक्खी में जो चीज फर्क करती है वह यह है कि वास्तुकार अपनी संरचना को यथार्थ में खड़ा करने से पहले अपनी कल्पना में खड़ा करता है।" कल्पना, अपने आपको ज्ञात यथार्थ पर आधारित करके, यथार्थ को बदलने हेतु "एक संरचना खड़ी करती है।"

अतः जैसे विज्ञान के क्षेत्र में होता है, वैसे ही बुर्जुआ कला के क्षेत्र में भी, मनुष्य की सक्रियता के उत्पादों को महज बुर्जुआ के रूप में "वर्गीकृत" करके रद्द कर देना नहीं, बल्कि उन्हें ठीक-ठीक जांचना-परखना होता है। कला (संगीत, साहित्य) में स्थायी मूल्य तभी आता है जब एक पूरा कलाकार्य प्रकृति, प्रकृति के साथ संघर्ष को और सामाजिक जीवन को सही-सही प्रतिबिम्बित करता है -- जब यह, एक समय विशेष में, समाज में कार्यरत शक्तियों की यथार्थ गति के अनुरूप होता है, और जब इसका सारतत्व और उसकी "श्रेष्ठता" को अभिव्यक्त करने वाला होता है। जैसा कि गोर्की ने कहा है, "यथार्थ को बदलने की मनुष्य की सामर्थ्य, उसके और ऊंचे उठने के दृढ़ निश्चय और प्रकृति के विरुद्ध और समाज के भीतर संघर्ष की इस "श्रेष्ठता" की अभिव्यक्ति ही कला की एक विशिष्ट अभिलाक्षणिकता है, जो रूप के समुचित इस्तेमाल और क्षेत्र-विशेष में प्राप्त तकनीकी कौशल द्वारा अपनी आवेगमयी शक्ति में उत्कर्षित होती है तथा व्यवहार को अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी ढंग से उद्दीप्त करती है। लेकिन यह याद रखना जरूरी है कि रूप की आवेगमयी शक्ति स्वयं में एक सामाजिक उत्पाद है और वस्तुतः एक राष्ट्रीय उत्पाद है, जो उस "विशिष्ट मनोवैज्ञानिक कल्पना का भाग है जिसका विकास पीढ़ी दर पीढ़ी अस्तित्व की असमान दशाओं के फलस्वरूप वैसे ही हुआ है", जैसे कि राष्ट्रीय समूहों -- जो कि आवश्यक नहीं कि ऐतिहासिक अर्थ में राष्ट्र ही हों -- के बीच हुआ। (इस अभिव्यक्ति के लिए तुलनीय है : "अन्तर्वस्तु में समाजवादी, रूप में राष्ट्रीय" संस्कृति।)

कला में भी बुर्जुआ समाज के विकास के चरण का भारी प्रभाव पड़ता है। अपने "शौर्यपूर्ण" चरण में, जब उदीयमान बुर्जुआ वर्ग सामन्तवाद के विरुद्ध संघर्ष के लिए अपनी शक्तियां बटोर रहा होता है, और जब सत्ता पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद इसका गुलाबी संवेग आता है, तब बुर्जुआ कला की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु यानी मनुष्य की विजय प्राप्त करने की शक्ति की इसकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक रूप से अभिलाक्षणिक होती है। बाद के चरणों में, समाज की इस यथार्थ गति के स्थान पर सन्देह, निराशावाद और ओछेपन प्रभावी अभिलाक्षणिकता बन जाते हैं, और तब "यथार्थ गति के स्थान पर संदेह, निराशावाद और ओछेपन प्रभावी अभिलाक्षणिकता बन जाते हैं, और तब "यथार्थ के प्रति एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को उकसाने वाला" कला का कार्यभार मरणासन्न बुर्जुआ वर्ग के हाथ से निकल कर सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधियों के हाथ में चला जाता है। लेकिन यह महज एक सामान्य प्रवृत्ति है, और इसे आंख मूंदकर एक रिवाज नहीं मान लेना चाहिए। उदाहरण के लिए, यूरोप के बुर्जुआ साहित्य में, गोर्की ने "प्रातिनिधिक 'अच्छे बुर्जुआ' लेखकों -- जो अधिक प्रतिभावान नहीं, बल्कि, अपने पाठकों की भांति ही दक्षहस्त और ओछे" थे -- और "उन महान लेखकों" के बीच फर्क किया था "जिन्होंने आलोचनात्मक यथार्थवाद और क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावाद को जन्म दिया था"। बुर्जुआ आलोचनात्मक यथार्थवादी और क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावादी, समाजवादी यथार्थ की भांति, बस एक ही चीज नहीं है; फिर भी उनका कार्य एक स्थायी मूल्य रखता है क्योंकि वह उनके समय के समाज की यथार्थ गति को प्रतिबिम्बित करता है, और इसीलिए पूरे समाज की यथार्थ गति का, प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष में मनुष्य की "श्रेष्ठता" का और उन सामाजिक शक्तियों का एक भाग होता है जो उसे रोक रही होती हैं। ऐसे महान कार्य, जो यथार्थ को प्रतिबिम्बित और मानव सक्रियता को उद्दीप्त करने वाले होते हैं, उत्तरवर्ती समाजों द्वारा संचित और विरासत में प्राप्त किये जाते हैं, तथा ये उन समाजों के बौद्धिक जीवन में सहायक होते हैं।

अन्त में, मैं इसे सबसे महत्वपूर्ण समझता हूं कि उत्पादन प्रणाली पर "आमतौर पर बौद्धिक जीवन की प्रक्रियाओं" की निर्भरता को कम करके नहीं आंका जा सकता, और न ही एक वर्ग विभाजित समाज के बौद्धिक जीवन की प्रक्रियाओं में कोई सुरक्षित, "वर्गविहीन" और "स्थायी" ठौर ही तलाशे जा सकते हैं।

लेकिन यह देखना भी उतना ही आवश्यक है कि यदि उत्पादन प्रणाली पर इस निर्भरता ने बौद्धिक जीवन की प्रक्रियाओं को, उनकी समस्त संगति से, आवश्यक रूप से रिक्त कर दिया होता, तो मनुष्य प्रकृति के ऊपर अपनी विजय के वर्तमान स्तर को प्राप्त ही नहीं कर पाता। इसके विपरीत, समाज "निरपेक्षतः वस्तुगत ज्ञान" का एक विशाल कोष संचित करता रहता है और व्यवहार में उसका इस्तेमाल करता है।

विज्ञान, कला और अधिरचना पर विचार-विमर्श बुर्जुआ प्रभावों और मतान्ध प्रवृत्तियों, दोनों ही को दूर करने में, तथा सभी क्षेत्रों में अपनी सांस्कृतिक विरासत का महत्व समझने में बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है, बशर्ते कि, इसके साथ ही, हम उस आशय को स्पष्टता के साथ ग्रहण करें, जिसे मार्क्स और एंगेल्स ने **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** में यह लिखते हुए प्रकट किया था :

"कम्युनिस्ट क्रान्ति परम्परागत सम्पत्ति-सम्बन्धों से सर्वाधिक उग्र परिवर्तनवादी सम्बन्ध-विच्छेद है; अतः कोई आश्चर्य नहीं कि इसमें परम्परागत विचारों से सर्वाधिक उग्र परिवर्तनवादी सम्बन्ध-विच्छेद निहित है।"

(स्रोत : मासेज ऐण्ड मेनस्ट्रीम, खण्ड 6, अंक 9, सितम्बर 1953)

अनुवाद : **विश्वनाथ मिश्र**

कहां गई स्त्रियां ?

खट रही हैं भूमण्डलीय असेम्बली लाइन पर

• कात्यायनी

''कहां गई है लड़कियां?
क्या बताऊं भाई
भाप मशीन चलाकर
कर रही बुनाई
देखना हो उनको अगर
अलस्सुबह उठना होगा
पौ फटते ही फैक्टरी तक
पैदल चलना होगा।''

ब्रिटेन में प्रचलित उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक दौर का यह लोकगीत उन स्त्रियों की त्रासदी बयान करता है जो पूंजीवाद के प्रारंभिक दौर में कपड़ा मिलों में पन्द्रह-पन्द्रह घण्टे काम करती थीं। उन्नीसवीं सदी में औद्योगिक क्रांति के आगमन के बाद इंग्लैण्ड और पूर्वोत्तर अमेरिका में खेतों में काम करने वाली मजदूर औरतें बड़े पैमाने पर सूती कपड़ा मिलों में भरती हुई थीं। गरीबों की दुनिया से -- रोजमर्रे के स्वाभाविक जीवन से स्त्रियां जैसे अदृश्य हो गई थीं और उन गरीब औरतों की दुनिया से स्वाभाविक जिन्दगी की गंध और छवि अदृश्य हो गई थी।

आज यही परिघटना बड़े पैमाने पर तीसरी दुनिया के देशों में कुछ नये रूपों में दिखाई दे रही है। पूंजीवाद के स्वतंत्र प्रतियोगिता के दौर में श्रम-विभाजन के क्लासिकी पूंजीवादी रूप ने सस्ते श्रम के भण्डार के रूप में स्त्रियों और बच्चों को देखा। अब साम्राज्यवाद के युग के आर्थिक नवउपनिवेशवाद या बाजार-उपनिवेशवाद के दौर में, भूमण्डलीकरण के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन का जो परिदृश्य उभरा है उसने एक कारखाने की चारदीवारी के भीतर कैद 'फैक्टरी असेम्बली लाइन' को एक दूसरे से जुड़ी अलग-अलग इकाईयों में विभक्त करके पूरी दुनिया में फैला दिया है और गरीब देशों की स्त्रियों की भारी आबादी को इससे जोड़कर पूंजी की निकृष्टतम कोटि की उजरती गुलाम बना दिया है। आज तीसरी दुनिया की युवतियां एशिया से लेकर लातिन अमेरिका तक, दुनिया भर में अपना कब्जा जमाने के लिए निकल पड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए सस्ते श्रम का विपुल भण्डार बनती जा रही हैं।

औद्योगिक क्रांति से लेकर आज तक श्रम-विभाजन का अन्तरराष्ट्रीकरण वस्तुतः कई मंजिलों से होकर गुजरा है। उन्नीसवीं सदी के अन्त और इस सदी की शुरुआत में एकाधिकारी पूंजी के विश्वव्यापी प्रभुत्व, वित्तीय पूंजी के आयात-निर्यात और वर्चस्व तथा विश्व-बाजार पर अधिकार के लिए उत्कट साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का युग प्रारम्भ होने के साथ ही पश्चिम के दैत्याकार निगमों द्वारा उपनिवेशों की जनता के श्रम की लूट का नया दौर शुरू हुआ। यूरोप-अमेरिका के मजदूरों ने गत सदी के उत्तरार्द्ध में लगातार संघर्ष करके बहुतेरी रियायतें और सुविधायें हासिल की थीं। साथ ही, उपनिवेशों से अर्जित अतिलाभ (सुपर प्रॉफिट) के कारण उनके एक बड़े हिस्से को बेहतर वेतन और सुविधाएं दे पाना भी संभव हो गया था। लेकिन फिर भी वहां स्त्रियों, बच्चों, अश्वेतों से और अप्रवासी मजदूरों का अतिशोषण (सुपर एक्सप्लायटेशन) जारी रहा और आज भी जारी है। फर्क यह है कि तीसरी दुनिया के श्रमिकों से फिर भी उनकी जीवन-स्थिति कुछ बेहतर है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भी तीसरी दुनिया के नवउपनिवेशों और सीमित राजनीतिक-आर्थिक आजादी वाले नवस्वाधीन देशों में कुल मिलाकर, भूमण्डलीय पूंजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों के ''गहराते जाने'' की प्रक्रिया जारी रही और संचित अतिलाभ साम्राज्यवादियों को पुनर्निवेश के लिए तथा श्रम की भूमण्डलीय लूट की नई-नई तिकड़में भिड़ाने के लिए बाध्य करता रहा।

1971 के एक सर्वेक्षण के अनुसार बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा तीसरी दुनिया के देशों में कारखाने लगाने का मुख्य कारण था -- यहां का कम वेतन। साठ के दशक में यह प्रवृत्ति तेज गति से आगे बढ़ी। दूसरे देशों में अपना उद्योग फैलाने वाली ऐसी पहली कम्पनियों में एक थी -- फेयरचाइल्ड कैमरा एण्ड इंट्रूमेण्ट कारपोरेशन जिसने 1961 में हांगकांग में निर्यात का सामान बनाने वाला एक कारखाना लगाया ताकि बढ़ती अन्तरराष्ट्रीय होड़ में टिके रहने के लिए बेहद कम मजदूरी देकर माल उत्पादन कर सके। साठ के दशक में बेसबॉल, वाशिंग मशीन, सिले वस्त्र, इलेक्ट्रानिक सामान, कार, जूते आदि बनाने वाली कम्पनियां पुर्जे जोड़-जोड़कर या उत्पादन-प्रक्रिया को कई हिस्सों में बांटकर सस्ते से सस्ते दामों पर उत्पादन कराने के नये-नये ठिकाने ढूंढ़ती हुई पूरी दुनिया में फैल गईं। पहले हांगकांग और ताइवान, फिर दक्षिण कोरिया और मेक्सिको और फिर सिंगापुर, मलेशिया, थाईलैण्ड, फिलीप्पींस आदि उनके अड्डे बने। यूं तो इन देशों में श्रम आम तौर पर सस्ता था, पर स्त्रियों का श्रम और अधिक सस्ता था इसलिए इन कम्पनियों ने बड़े पैमाने पर बहुत कम वेतन या दिहाड़ी पर या शिकमी ठेके पर स्त्रियों से काम कराना शुरू कर दिया। साठ के दशक के अन्त तक निर्यातोन्मुख उत्पादन ही विकास की सबसे प्रचलित रणनीति बन चुकी थी और विश्वबैंक, आई.एम.एफ., यूनिडो, एड आदि अन्तरराष्ट्रीय एजेन्सियां इसके पैरोकार की भूमिका निभाने लगी थीं। इस तरह असेम्बली लाइनें (जिस पर पुर्जे जोड़कर माल तैयार किया जाता है) पूरे भूमण्डल पर

विस्तारित होने लगी थी। एक अन्तरराष्ट्रीय निवेश कम्पनी के वरिष्ठ प्रबन्ध निदेशक तथा अमेरिकी सरकार के भूतपूर्व अवर सचिव जॉर्ज बॉल ने 1967 में ही वित्तीय पूंजी की इस आम रुझान और प्रवाह की दिशा पर टिप्पणी करते हुए कहा था, ''आज ऐसी कम्पनियों की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है जो एक देश-समूह से कच्चा माल लेकर दूसरे देश-समूह के श्रम तथा कारखानों से लाभ उठाते हुए, विनिर्मित माल तैयार करके किसी तीसरे देश-समूह को बेचने में लगीं हुई हैं। त्वरित संचार साधनों, तेल परिवहन सेवाओं, कम्प्यूटर और आधुनिक प्रबन्धकीय तकनीक से लैस होकर श्रम व कच्चे माल की उपलब्धता तथा कीमतों के उतार-चढ़ाव के अनुसार, हर महीने उत्पादन तथा वितरण के तरीकों में फेरबदल करते हुए वे अपने संसाधनों को नित नये तरीके से संयोजित करते रहते हैं।''

1970 के दशक में नया अन्तरराष्ट्रीय श्रम विभाजन कमोबेश स्थापित हो चुका था। तीसरी दुनिया के देश अब केवल प्राथमिक माल का उत्पादन और निर्यात तथा विकसित देशों से विनिर्मित माल का आयात करने, की मंजिल से आगे बढ़ चुके थे। यही नहीं, ऊपर उद्धृत जार्ज बॉल के प्रेक्षण से भी आगे अब स्थिति यह हो चुकी थी कि सिर्फ श्रम-प्रधान उत्पादनों के बजाय अब मेक्सिको और ऐसे ही कुछ अन्य देश ऐसे उत्पादन में भी लग चुके थे जिनकी तकनोलॉजी और कुशलता अमेरिका और यूरोप जैसी ही उन्नत थी। फर्क सिर्फ यह था कि ऐसे उत्पादों की लागत इन देशों में अपेक्षतया काफी कम होती थी। प्रोद्योगिक प्रगति ने पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया की भूमण्डलीय पहुंच को व्यापक बना दिया। सस्ते, सुगमतर और तीव्रतर संचार-यातायात और नयी तकनोलॉजी ने उत्पादन प्रक्रिया को टुकड़े-टुकड़े में बांटकर पूरी पृथ्वी पर पार्सल कर देना सम्भव बना दिया। 1970 के दशक में दीर्घकालिक मंदी के नये चक्र की जो शुरूआत हुई उसने पश्चिमी चौधरियों को मजबूर किया कि वे आर्थिक विकास के नवीकरण और आर्थिक ठहराव की हद तक आगे बढ़ चुकी प्रतियोगिता का मुकाबला करने की तरकीबें ईजाद करें। इन्हीं कोशिशों-तरकीबों के पैकेज को आज ''पुनर्गठन'' (रीस्ट्रक्चरिंग) ढांचागत समायोजन और बाजार-निर्देशित नुस्खों की संज्ञा दी जा रही है जो भूमण्डलीकरण के इस नये दौर के चालू मुहावरे बने हुए हैं। 'कारपोरेट रीस्ट्रक्चरिंग' वास्तव में लागत में कटौती और श्रम पर पुनर्नियंत्रण का ही दूसरा नाम है जिसे श्रम बाजार में ''लचीलेपन'' की वापसी की संज्ञा भी दी जा रही है, मुक्त बाजार का रामधुन जपने वाले अर्थशास्त्री और राजनीतिक चिन्तक आज विश्व बाजार की बढ़ती प्रतियोगिता की स्थिति को स्वीकारने की सलाह देते नहीं थक रहे हैं, पर वे यह नहीं बताते कि भूमण्डलीय प्रतियोगिता का जो अर्थ गरीब देशों के(और धनी देशों के भी) स्त्री-पुरुष मजदूरों के लिए है, वही अर्थ फोर्ड, टोयोटा, जनरल मोटर्स, मर्सिडीज बेंज आदि के लिए (या टाटा-बिड़ला-अम्बानी के लिए) नहीं है। श्रम और पूंजी के परस्पर विरोधी हित आज काफी साफ हैं और वास्तव में, वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन इसी अन्तरविरोध का एक नतीजा है।

इस सच्चाई से एकदम परे हटकर पश्चिमी थिंक टैंक और उनके पिछलग्गू देसी कलमनवीस हमें यह बताने की कोशिश करते हैं कि भूमण्डलीकरण बाजार-प्रतियोगिता और नई तकनोलॉजिकल प्रगतियों के संयोजन का परिणाम है, पर प्रतियोगिता या तकनोलॉजी में कुछ भी तटस्थ नहीं होता। पूंजीवादी बाजार अर्थ-व्यवस्था में माल एवं सेवाओं के ज्यादा से ज्यादा सस्ते और ज्यादा से ज्यादा तेज उत्पादन के द्वारा ज्यादा से ज्यादा लाभ-संचय के लिए बाजार की तलाश की मुहिम ही प्रतियोगिता को जन्म देती रही है और औद्योगिक क्रांति से लेककर आज तक के समय में, उत्पादन के लिए नई-नई तकनोलॉजी का इस्तेमाल मुनाफे के इसी उद्देश्य से होता रहा है। श्रम के लिए इसका एकमात्र मतलब ''उत्पादन के एक उपादन'' के रूप में इस्तेमाल होना है जिसकी भूमिका कुशलता और लागत से मापी जाती है। प्रारम्भिक औद्योगिक क्रांति में इसी के चलते स्त्रियों के अतिशोषण की शुरुआत हुई और आज भी तीसरी दुनिया की स्त्रियों का अत्यन्त सस्ता श्रम इसी कारण से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा खरीदा जा रहा है।

भूमण्डलीकरण के वर्तमान दौर में ''कल्याणकारी राज्य'' का रामनामी दुपट्टा फेंककर पूंजीवाद अपने सम्पूर्ण समग्र रूप में सामने है। ''पुनर्गठन'' का एकमात्र अर्थ यही है। निजीकरण और 'डीरेगुलेशन' और ढांचागत समायोजन का एकमात्र उद्देश्य पूंजीवाद को उसके क्लासिकी रूप में एक बार फिर बहाल करना है, जिसमें पूंजीवाद की जो बुनियादी प्रवृत्तियां शुरू से उसके भीतर मौजूद रही हैं वे एकदम सतह पर उभर आई हैं। ये प्रवृत्तियां हैं -- हर चीज को माल में तबदील कर देना और अतिलाभ (सुपर प्राफिट) अर्जित करने और उग्र होती जा रही बाजार की प्रतिस्पर्धा में टिके रहने के लिए पूंजीपतियों के द्वारा सस्ते से सस्ते श्रम के स्रोतों की तलाश। और आज दुनिया में सबसे ससता श्रम है तीसरी दुनिया के देशों की निम्न मध्यवर्गीय और मेहनतकश स्त्रियों का, जिस पर तमाम राष्ट्रपारीय निगम गिद्धों की तरह टूट पड़े हैं।

एनेट क्यूण्टेस और बारबरा एहरेनराइश के शब्दों में, ''अस्सी के दशक में 'मेड इन ताइवान' और हाइती में उत्पादित'' जैसे चिप्पियों के पीछे महिला श्रम-शक्ति का विराट पुंज छिपा हुआ था पिछले लगभग पन्द्रह सालों से श्रम को सस्ते से सस्ता और मुनाफे को ज्यादा से ज्यादा बनाने के लिए सियर्स रोबक् तथा जनरल इलेक्ट्रिक जैसे बहुराष्ट्रीय निगमों की महिला श्रमिकों पर निर्भरता बढ़ती गई है। पुर्जे जोड़कर बनाये जाने वाले खिलौने, जींस पैण्ट, माइक्रोप्रोसेसर हार्डवेयर जैसे उपभोक्ता सामानो की अदृश्य उत्पादक औरतें ही रही हैं।

''इन कम्पनियों के तीसरी दुनिया की ओर कूच करने का मुख्य कारण है, यहां का कम वेतन। अमेरिका में उत्पादन श्रृंखलाओं में खड़ी होकर पुर्जे जोड़ने वाली मजदूर औरत औसतन 3.10 डालर से लेकर 5 डालर प्रति घंटा तक कमा लेती है। तीसरी दुनिया में वही काम करने वाली औरत मजदूर पूरे दिन की हाड़तोड़ मेहनत के बाद 3 से 5 डालर कमा पाती है। ऐसे में अधिक से अधिक निचोड़ने की ख्वाहिश रखने वाले निगमों के प्रबन्धक आखिर मेसाच्यूसेट्स में किसी को एक घण्टे के काम के लिए भला उतना पैसा क्यों देंगे, जो फिलीप्पींस के लोग पूरे दिन की मेहनत के बाद कमाते है? यही नहीं, जब औरतों की दरें पुरुषों से 40-60 प्रतिशत कम हों तो वे पुरूष मजदूर क्यों रखना चाहेंगे? अमेरिकी निगम अपनी इस अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन सुविधा को ''समुद्रपारीय स्रोतीकरण (ऑफशोर सोर्सिंग) का नाम देते हैं। अमेरिकी मजदूरों का रोजगार छीनने वाली इन कम्पनियों को वहां की ट्रेड यूनियनों से 'भगोड़ी कार्यशालाओं' (रनअवे शॉप्स) का नाम दिया है।'' (विमेन इन द ग्लोबल फैक्टरी; अमेरिका, 1983)

एनेट और बारबरा ने अपनी पुस्तक में मलेशिया, थाइलैण्ड, ताइवान से लेकर मैक्सिको, ब्राजील, डॉमिनिकन रिपब्लिक, हाइती, ग्वाटेमाल प्यूएर्तोरिको आदि देशों की स्त्री कामगारों के कठिन श्रम और नारकीय

(शेष पृष्ठ 52 पर)

मृत्यु के संस्मरण

कुछ अंश

● के. बालगोपाल

(आन्ध्र प्रदेश के सुप्रसिद्ध लोक अधिकार कर्मी व लेखक)

चेहरे पर बहता हुआ खून आंखों में भर जाने के कारण उसे कुछ दिखाई नही दे रहा था। उसके माथे पर हुए गहरे घाव से बहुत खून बहा था, पर दर्द अभी ज्यादा नहीं था और वह काफी स्पष्टता से सोच सकता था। दर्द शायद कुछ देर बाद शुरू होगा। जीप भागती जा रही थी और वह ड्राइवर सीट की पीठ और एक पुलिसमैन के बीच फंसा हुआ था। जीप में दस ग्यारह अन्य पुलिसमैन भी ठंसे हुए थे। पुलिसमैन अधिक सुविधाजनक स्थिति में आने के लिये कभी-कभी कसमसाता था पर खामोश था। सब के सब खामोश थे। ये आदमी स्पेशल टास्क फोर्स के होने चाहिए, उसने सोचा, क्योंकि ये आत्याकुर थाने पर दिन में देखे गये खाकी वर्दीधारी सिपाहियों जैसे नहीं थे। वे झगड़ालू और बातूनी थे और दिन भर गालियां बकते रहते थे। ये उनसे अलग थे। ये खामोश थे, इनकी खामोशी में भोंडापन था, वही भोंडापन जो इनकी कोहनी के नीचे रखी अजीबो-गरीब रायफल में था। कभी-कभी गला खरखराने के अलावा वे लोग जो दूसरी आवाजें निकाल रहे थे उनसे वह खामोशी और भी भयानक लग रही थी। वे आवाजें थी अस्पष्ट फुसफसाहटें जिन्हें समझने के लिये वह अपने कानों पर जोर डाल रहा था। पिछली बार जब वे उसका अपहरण करके लाये थे तब उसने अनुभव किया था कि बन्दी बनाने वालों की फुसफुसाहटों को समझने के बन्दी के असफल प्रयत्नों से अधिक भयानक कुछ भी नहीं होता।

वह सड़क अब पहले से बेहतर थी, उसने अन्यमनस्कता से सोचा। पर इसे बेहतर होना ही था। वह स्वयं और उसके गांव के साथी ही तो थे जिन्होंने सरपंच को बाध्य किया था कि वह रोजगार फंड से इस सड़क की मरम्मत कराये। कुछ हिस्से की मरम्मत हो भी चुकी थी। यदि सरपंच पर छोड़ दिया जाता तो वह इस धन को ग्राम पंचायत कार्यालय को सुन्दर बनानेया ऐसी ही किसी और सड़क पर खर्च करता, पर उसने और उसके साथियों ने उसे यह मौका नहीं दिया। उन्होंने एक दिन ग्राम पंचायत कार्यालय में सरपंच को घेर लिया और बाध्य किया कि वह सड़क की मरम्मत के लिये धन निर्धारित करे। बाद में जब उसे इस घटना पर विचार करने का मौका मिला तो उसे लगा कि वे उसके साथ बहुत कठोरता से पेश आये थे। यह बात उसके पिता ने भी घटना के एक दिन बाद उससे कही थी। तुम उसे बुलाकर गांव में रायशुमारी करा लेते, उसके पिता ने कहा, पर इसके बजाय तुमने उसका कालर पकड़ कर गालियां दीं और धमकाया। बल्कि तुमने इस मामले की शिकायत कोमरन्ना से करने की धमकी दी, जो इस क्षेत्र में घूमने वाले नक्सलवादियों के सशस्त्र दस्ते दलम का नेता है। शायद वे ठीक कहते थे। पर उसके साथी उसके पिता से सहमत नहीं थे। क्या हमने पहले ऐसी पचासों मीटिंग और बहसें नही की है। उन्होंने पूछा था और जब तक इस क्षेत्र में दलम नहीं आया था, उनसे कोई फायदा हुआ? शायद यह बात भी सही थी। राजनैतिक तर्कों को समझने में उसे कठिनाई होती थी। वह तो सिर्फ इतना जानता था कि उन लोगों ने जो कुछ किया था उसकी लोगों ने सराहना की थी। उन्होंने उनकी प्रशंसा की थी और कहा था कि ऐसे ही युवकों की देश में जरूरत है।

जीप में फिर धचके लगने लगे। मरम्मत की हुई सड़क खत्म हो गयी थी। उसके विचार वर्तमान की ओर मुड़ गये। वह मूर्ख था जो अपने अधिकांश साथियों की तरह बाहर नहीं चला गया। उनमें से एक कोमरन्ना के दलम में शामिल हो गया। किसी दिन यदि मारा भी जाए तो उसके पास अपनी रक्षा करने के लिये एक हथियार तो होगा। और भी सभी चले गये थे। कोई हैदराबाद, कोई ठाणे, कोई सूरत, जाने कहां-कहां। सिर्फ एक को छोड़कर, जो उसका सबसे गहरा दोस्त था। उसका वह दोस्त भयानक मौत मरा। वह और जनगांव एवं धानपुर के आसपास के गांवों के बारह अन्य युवक। उसके दोस्त ने एक दिन उसे बताया था कि सब कुछ तय हो गया है। वे जनगांव से वैन ले रहे हैं और भद्राचलम के पास से राज्य की सीमा पार करके बस्तर निकल जाएंगे। वह इतना सावधान तो था कि उसने जाने का कारण नहीं पूछा। ऐसी बातें न जानना ही अच्छा होता है। उसने खुद भी फैसला कर लिया था कि बस अब बहुत हो गया और वह भी अब सामान्य जीवन बितायेगा। लेकिन ये लोग भद्राचलम पार नहीं कर पाये। उन्हें रास्ते में ही पुलिस ने पकड़ लिया। यह बात 5 जनवरी की है या 6 जनवरी की? शायद पांच को देर रात। वह भी भद्राचलम की तरह खम्मम जिले में था पर वह कुछ पूर्व की ओर। एक बार वह भी वहां जा चुका था। बहुत सुन्दर जगह है। एक बड़े तालाब पर बना हुआ मिट्टी का बांध ही वहां एक गांव से दूसरे गांव जाने का एकमात्र रास्ता है। उसके चारो ओर धान के हरे भरे खेत और बहुत ही घना जंगल है। उन तेरह युवकों को (उनमें एक युवती थी जो नलगोंडा जिले में मोठे के पास की थी) इसी सुन्दर गांव के पास एक जगह ले जाकर गोली मार दी गयी। अगले दिन अखबारों ने इस कहानी को मोटे-मोटे अक्षरों में छापा। राज्य के इतिहास की सबसे बड़ी मुठभेड़। भारी हथियारों से लैस तेरह नक्सलवादी मारे गये। एक पूरे दलम का सफाया। पुलिस वैन को भूमिगत सुरंग से उड़ाने की कोशिश बेकार। पुलिस द्वारा असाधारण साहस और धैर्य का प्रदर्शन। यह पुलिस द्वारा गढ़ी हुई निरी बकवास थी जिसे अखबारों ने जैसा का तैसा छाप दिया था। उसने भी यह खबर पढ़ी थी और संख्या को देखकर चिंतित हो गया था। क्या यह उसके दोस्त का दल था? वे भी तो तेरह थे। पर वे तो वैन में जा रहे थे; वैन का क्या हुआ? वे लोग कहां पकड़ गये? एक या दो दिन में ही सब विस्तार से पता चल गया। अखबारों ने खुद ही सच छाप दिया। वैन के विषय में। वैन को तीन दिन बाद भद्राचलम से आगे एक खड्डु में धकेल दिया था।

हल्के से धक्के के साथ जीप मुख्य मार्ग पर आ गई और एकदम दाहिनी ओर मुड़ गई। इसका

अर्थ था कि जीप वारंगल जा रही थी। अब वह आसानी से सांस लेने लगा और मांसपेशियों को ढीला छोड़ दिया। उसके सिर में दर्द हो गया था। उसने बिना ध्यान दिये अपनी बांह को घाव पर दबा लिया था और खून का बहना लगभग रुक गया था। लेकिन उसके सिर और आंखों में दर्द हो रहा था।

किसी चीज को छोड़ने का फैसला कर लेना आसान है लेकिन उस फैसले पर डटे रहना बहुत कठिन, यह अनुभव से वह सीख चुका था। कम से कम उसके लिये तो बहुत कठिन है। पिछली बार जब वह पकड़ा गया था, बहुत पहले, जब स्थितियां वर्तमान की भांति अंधकारपूर्ण नहीं हुई थी, उसने समस्त गतिविधियों को त्यागने और जिसे सामान्य जीवन कहा जाता है, जीने का फैसला कर लिया था। सामान्य जीवन। जब जीवन की परिस्थितियां बेहतर होतीं तो उसे इस शब्द से ही घृणा होती पर आज जैसे खतरनाक समय में उसे सामान्य जीवन जीने की बड़ी भारी लालसा होती थी। उसके पिता के पास दो एकड़ जमीन, एक फूस का घर और कुछ मवेशी थे। जिस साल पिता के पेट का आपरेशन हुआ उसी साल उसकी पढ़ाई छूट गयी, यद्यपि उसमें पढ़ने की लगन थी और थोड़ी सी कोशिशों के बाद वह फिर स्कूल जा सकता था; या अधिक सामान्य यह होता कि वह भी अपने पिता की भांति एक और असंतुष्ट किसान का जीवन व्यतीत करता। कितना अच्छा होता यदि हालात ऐसे नहीं होते और किसी को स्कूल नहीं छोड़ना पड़ता, या असंतोषों से भरा जीवन न बिताना पड़ता, लेकिन वह बहुत भोला था जो यह विश्वास करता था कि चूंकि समानता एक न्यायोचित लक्ष्य है अतः इसके लिये किये जाने वाले संघर्ष की सराहना हर आदमी करेगा। उसे यह जानने में समय लगा और साथ ही भारी आघात भी कि ऐसा नहीं है। प्रारंभ में स्थितियां भिन्न थीं। उसके गांव में कोई भी बहुत बड़ा भू-स्वामी नहीं था। केवल सरपंच और थोड़े से और लोगों को छोड़कर, जिनके पास लगभग पच्चीस एकड़ ज़मीन के अलावा आत्माकुर और पारकल में कुछ व्यापार था, बाकी सभी कड़ी मेहनत करने वाले लोग थे। कम्युनिज्म और कम्युनिस्टों को वे एक लम्बे समय से देखते और सुनते आ रहे थे, और तब वह स्कूल में पढ़ता था जब उन्होंने इन नये कम्युनिस्टों के बारे में पहली बार सुना था जिन्हें नक्सलवादी कहा जाता था। एक अफवाह थी कि आसपास के गांवों में युवकों के बीच नक्सलवादी फैले हुए हैं जिसे बाद में उसने सच पाया था। पर प्रारम्भ में उसने इन अफवाहों को गंभीरता से नहीं लिया था, क्योंकि वह स्थानीय युवकों को जानता था और यह भी जान सकता था कि वे कितने सक्षम हैं। वे यह तो जानते थे कि एक भैंस पर सवारी कैसे की जाती है, ज्वार और मिर्च की फसल की देखभाल कैसे की जाती है और यदि आप उन्हें पास ही कुआं दिखा दें तो वे धान की पट्टी में पानी भी दे सकते थे पर नक्सलवादी हो गये -- कभी नहीं।

यह पिछले साल की गर्मियों से पहले की बात है। पूरे जिले में उत्तेजना फैली हुई थी कि वारंगल के पास नक्सलवादियों की एक मीटिंग होने वाली है। लोग कहते थे कि सरकार ने अपने रवैये में ढील दे दी है और उन्हें मीटिंग कर लेने देगी। उन दिनों लोग इस मीटिंग के अलावा कोई और बात ही नहीं करते थे और लगभग पूरा गांव ही वहां गया था। और स्वाभाविकतः वह भी गया था। वहां जो कुछ भी हो रहा था ज्यादातर उसकी समझ में नहीं आया। स्टेज बहुत दूर बनी हुई थी और लाउडस्पीकर्स से भी आवाज साफ नहीं आ रही थी। बहुत बड़ा जनसमुदाय था, कई लाख आदमी थे। अचानक ऐसा तूफान आया जैसा तेज गर्मियों में आता है। उसे दंतकथाओं के हीरो गद्दर गायक की झलक मिली। उसे ज्यादा कुछ समझ में नहीं आया फिर भी वह रात को घर लौटा तो उल्लास से भरा हुआ था।

इसके बाद गांवों में बहुत परिवर्तन आया। सबसे पहले मुख्यतः रवैया बदला। अचानक एक के बाद एक गांवों में गरीब घरों के युवकों ने जीवन का कार्यभार अपने कंधों पर ले लिया। हर बात के विषय में वे ही फैसला करने लगे। उन्होंने मजदूरी की दरें निर्धारित की, सामाजिक झगड़ों को निपटाया, उन्होंने फैसला किया कि हर किसान के पास कितनी जमीन उसकी उचित आवश्यकताओं से अधिक है और गरीबों द्वारा ली जा सकती है। और भी बहुत सी बातों का वे ही फैसला करते है। कोतवाली, पंचायत और अदालत वे ही बन गये। उनके पीछे, उनकी सहायता करने और सलाह देने के लिये नक्सलवादी नेता थे जो अधिकतर उसके जैसे गांवों और माता-पिता के यहां पैदा हुए थे, इसलिये सारी स्थितियों से परिचित थे। यह एक महान समय था जैसे एक नये युग का उदय हो रहा हो। एक के बाद एक गांव में बहुत से काम किये गये, गरीबों ने बहुत सी भूमि पर अधिकार किया और बहुत से अन्याय खत्म किये गये। स्वाभाविक रूप से कुछ गलत बातें भी हुई, कुछ बहुत घातक गलतियां भी की गयीं। प्रायः उस जैसे युवक कुछ ज्यादा ही निष्ठुर और निश्चिन्त हो गये थे, पर कुछ भी हो यह एक रोमांचकारी समय था। अब पीछे मुड़कर देखने पर जो बात उसका सबसे ज्यादा ध्यान खींचती है वह यह है कि किस प्रकार शक्ति और प्रभुत्व उन लोगों के हाथों से लेकर, जो शताब्दियों से उनका उपभोग कर रहे थे और जो कानून द्वारा उन्हें दी गई थी, उन लोगों के हाथों में दी गई जो उस धरती के निम्न, मूक और अभागे लोग थे। उन्होंने जो कुछ भी किया था उसमें से वह जो अच्छा था, और वह भी जिसकी क्रूर और अपरिपक्व कहकर आलोचना की गई थी, इसी प्रक्रिया से निकले थे।

स्वाभाविक रूप से वह परिवर्तन अधिक समय तक कायम नहीं रह पाया था और वे शायद मूर्ख थे जो इस बात को देख नहीं पाये। उसके पिता ने बार-बार चेतावनी दी थी। मैं दुनिया को समझता हूं। तुम लड़के नहीं जानते कि ये जानवर कितने निर्दयी हैं। उसके साथी उसके पिता का उपहास करते थे। वह नहीं करता था, क्योंकि वह जानता था कि वे कितने होशियार और साहसी हैं, फिर भी वह अपने साथियों की मनोदशा से प्रभावित हो जाता था। या शायद अपने भोलेपन से। ऐसा भोलापन अक्षम्य था, हाल ही में यह समझ में आया तो उसका मन कड़वाहट से भर गया था। यह उसका भोलापन ही था जो वह यह मानता था कि जो उसे स्वतः प्रमाणित और न्यायोचित लगता है, इतना सीधा जैसे दो और दो चार, वह दूसरों को भी समान रूप से न्यायोचित लगना चाहिए। भोलापन, जो यह मानता था कि कुछ बहुत ही अविवेकी और दुष्ट लोग ही, जो दुनिया में बहुत कम होंगे, न्याय के विरुद्ध हो सकते हैं। भोलापन, जो इस संभावना के बारे में सोच भी नहीं सकता था कि अन्य सभी प्रकार से पूरी तरह सामान्य व्यक्ति इस स्वतः प्रमाणित और न्यायोचित संघर्ष का विरोध कर सकते थे। तथ्यों को ध्यान में रखते हुए -- जैसे कि वे उसे सहज ही दिखायी देते थे -- क्या उसे सचमुच दोष दिया जा सकता था। धरती किसी की नहीं थी फिर भी कुछ लोगों ने उसके बड़े-बड़े टुकड़े करके आपस में बांट लिये थे। अब बाकी लोग अपना हिस्सा मांग रहे थे। क्या यह स्पष्टतः न्यायोचित नहीं था? शहरों में कुछ लोग जैसे वह यूनिवर्सिटी का प्रोफेसर जो अपना गांव छोड़कर आ गया था-मोटा वेतन लेते थे जो दो सौ रुपये प्रतिदिन होता, गरीब जो रोजाना बीस रुपया भी नहीं कमा पाते थे -- पति-पत्नी दोनों मिलकर अब ज्यादा चाहते थे। क्या यह भी स्पष्टतः न्यायोचित नहीं था? नैतिकता की चेतना, सही और गलत की चेतना सभी इन्सानों में स्पष्टतः बराबर बंटी हुई है, और फिर भी थोड़े से लोगों ने युगों से बुद्धिमानी पर एकाधिकार का दावा किया हुआ है, और बाकी लोग उनकी बुद्धिमत्ता के दुख चुपचाप भोगते आ रहे है। अब वे भी अपने लिये इस विशेषाधिकार की मांग कर रहे थे ओर यह भी स्पष्टतः न्यायोचित था। था या नहीं? ऊंची जाति के लोग जिनके पास ऊंची मात्रा में जमीन थीं हमेशा से शक्ति को धारण करते आ रहे थे। स्पष्टतः ऐसा होने का कोई कारण नहीं था। या था? क्या

सभी व्यक्ति शक्ति का उपभोग करने के समान रूप से योग्य या अयोग्य नहीं हैं? अवश्य हैं, उसे तो कम से कम ऐसा ही लगा था।

और फिर भी जाहिर है ऐसा नहीं था, जो कि उसने बहुत कष्ट उठाने के बाद उस वक्त. जाना जब उसे आज ही की तरह अपहरण करके मुलुग में उस काले और मोटे पुलिस के डिप्टी सुपरिटेंडेंट के सामने ले जाया गया था। उसने घंटों तक उस आदमी के सामने यही स्वतः प्रमाणित सच्चाईयां रखने की कोशिश की पर आखिर में वह टूट गया और रोने लगा। वह इस सारे अन्याय पर रोया था। बाद में वह ज्यादातर शारीरिक यातनाओं के कारण रोता था पर वह निरा अन्याय ही था जिसके कारण वह शुरू-शुरू में रोता था। जेल में बिताये छह दिन का यह समय और भी लंबा हो सकता था पर कुछ नागरिक स्वतंत्रता के लिये लड़ने वाले लोगों ने उसे छुड़ा लिया – और उसका अधिकांश भोलापन समाप्त हो गया था। उसने अनुभव किया कि कुछ बातें स्वतः प्रमाणित सत्य हो सकती हैं और वह आदमी उन्हें ऐसा मान भी सकता है, और फिर भी उन सत्यों के अनुसार काम करना गलत हो सकता है, घातक रूप से गलत हो सकता है। आप जो कहते हैं उसकी न्यायोचित से कोई भी इन्कार नहीं करेगा और फिर उसके लिये आपको सताया जायेगा और यातनाएं दी जायेंगी।

छह दिन तक भारी यातनाएं देने के बाद उसे वारंगल की अदालत में ले जाया गया था। उस पर पांच अपराधों का आरोप लगाया गया था। उन्होंने आरोप लगाया कि उसे हजनकोंडा नगर की सीमा पर गिरफ्तार किया गया था और उसके पास से हथगोला और अलगाववादी साहित्य बरामद किया गया (झूठ)। उसने अपने गांव की 'जनता की अदालत' में हिस्सा लिया था और एक आदमी को, जिसने अपनी पत्नी और बच्चों को छोड़ दिया था, बुरी तरह पीटा था (लगभग सच क्योंकि उसने चाहे पिटाई न की हो पर पिटाई का अनुमोदन किया था)। उसने पास के एक गांव में अन्यत्र रहने वाले भूमिपति की 25 एकड़ जमीन पर कब्जा करने के लिये घातक हथियारों से लैस 72 भूमिहीन मजदूरों की एक भीड़ का नेतृत्व किया था। (सच, पर उनके पास कोई घातक हथियार नहीं था, केवल कुछ डंडे और अन्य औजार थे)। उसने कुछ और लोगों के साथ मिलकर 'मुठभेड़' में हुई एक मौत के खिलाफ प्रदर्शन करते हुए राज्य परिवहन की एक बस में आग लगा दी थी और ड्राइवर एवं कंडक्टर का विरोध करने पर जान से मारने की धमकी दी थी (आग लगाने की बात काफी सच थी, हालांकि पहला अनुभव होने के कारण उसने बस की अपेक्षा अपनी चमड़ी ही अधिक जला ली थी, पर ड्राइवर और कंडक्टर को किसी ने धमकी नहीं दी थी -- इसकी जरूरत नहीं थी)। और वह आत्माकुर मंडल प्रजापरिषद के अध्यक्ष का अपहरण करने के लिये कोमरन्ना इलम में शामिल हुआ था (झूठ)।

जब वह अदालत में खड़ा था तो उसके मन में बहुत विषाद था और कुछ नये सत्य उसके सामने उद्घाटित हो चुके थे। सारे आरोप आतंकवाद विरोधी अधिनियम (टाडा) के अंतर्गत लगाये गये थे और छह महीने के अन्दर जमानत होने की बहुत कम संभावना थी। जब वह आशंकित खड़ा अपनी हथकड़ी पर उंगलियां फिराता दूर बैठे जज की ओर देख रहा था तो इस सारे अन्याय पर उसका हृदय जल रहा था, यद्यपि इतना वह जान चुका था कि इसके आगे वह बेबस है। वह ऐसे आदमियों को जानता था -- विधायक और मंत्रियों समेत -- जिन्होंने गरीबों की जमीन हथिया ली थी और विरोध करने पर उन्हें बुरी तरह पीटा था, ऐसे शराब ठेकेदारों को जानता था जिन्होंने गैर कानूनी शराब बनाने पर आदिवासियों के साथ बलात्कार और उनकी हत्याएं की थी। वह कांग्रेसी युवकों को जानता था जिन्होंने मद्रास के पास कहीं राजीव गांधी की हत्या होने पर अनगिनत बसें जला डाली थीं। वह भूमिपतियों को जानता था जो रोजाना गांव में 'दरबार' लगाते थे और लोगों को तमाम तरह की सजाएं देते थे। उनमें से किसी को भी, एक भी आदमी को, न तो गिरफ्तार किया गया, न ही उसकी तरह भयंकर यातनाएं दी गयीं और न टाडा के अन्तर्गत जेल भेजा गया। पिछले छह दिन में जब भी ये बातें वो सोचता था उसका गला आंसुओं से रुंध जाता था। उसका मन हुआ कि वह अदालत में चीखने लगे या उसी तरह भाषण देने लगे जिस तरह सजाए हुए लोग फिल्मों में देते है। पर वह ऐसा नहीं कर पाया। किसी डर ने उसे ऐसा करने से नहीं रोका था, बल्कि वह उसे बड़ा बेतुका लगा क्योंकि अदालत हास्यास्पद कागजों और बकवासों में इतनी उलझी हुई थी कि वह उसके हृदय को जलाने वाले न्याय और अन्याय के सवालों को उठाने की जगह कतई नहीं थी। जजों और वकीलों के चेहरे जो बोरियत से अपने केसों की सुनवाई का इंतजार कर रहे थे, इतने दूरदराज और उदासीन थे कि इसके बजाय वह उसे कोर्ट लाने वाले सिपाहियों से बातचीत करने लगा। एक सिपाही ने उसे टहोका दिया और एक ठिगने, सांवले और दृढ़ दिखने वाले वकील की ओर इशारा किया जो उठ खड़ा हुआ और उसी की ओर संकेत करते हुए जज से कुछ कह रहा था। सिपाही ने उस वकील का परिचय प्रभाकर रेड्डी नाम से दिया जो नागरिक स्वतंत्रताओं के लिए लड़ता था, और जो उस जैसे ही युवकों का केस लड़ता था। यह केस वह बिना फीस के ही लड़ता था, सिपाही ने आदरसूचक स्वर में बताया। लेकिन दूसरे सिपाही ने भद्दी टिप्पणी करके रंग में भंग डाल दिया। वकील क्या कह रहा था यह तो वह नहीं सुन पाया पर उसने जज को सिर हिलाते हुए देखा। थोड़ी देर बाद उसे जेल ले जाया गया। उसने जेल में छह महीने नहीं बिताये थे जैसा कि उसे डर था बल्कि छह सप्ताह बाद वह जमानत पर छूट गया। वह जानता था कि अपनी मुक्ति के लिये वह उस वकील की दृढ़ता का ऋणी है इसलिये वह धन्यवाद देने उसके घर गया। वह एक रूखा सा आदमी था जो वकील से अधिक एक किसान लगता था और बहुत कम बोलता था। उसने सिर्फ इतना ही कहा कि वह सुनवाई पर नियमित रूप से आता रहे, कुछ प्रश्न उसके गांव की घटनाओं के विषय में पूछे और उसे विदा कर दिया। उसने जेल में रहकर वकील के लिये अपने हृदय से चिरस्थाई सम्मान संचित कर लिया था। उसे पता चला कि उस जैसे सैकड़ों व्यक्ति थे युवक, किसान, मजदूर -- जिनके केस उस वकील ने लड़े थे। वे सभी केस टाडा के तहत थे जो भूमिपतियों की जमीन पर अतिक्रमण करने, शराब के व्यापार में बाधा डालने या अन्य अपराधों के आरोप में लगाये गये थे। वकील उन केसों को पूरी लगन के साथ लड़ता था और कभी फीस नहीं मांगता था। वह कभी भी इस विषय में डींग नहीं हांकता था बस कभी-कभी फीकी मुस्कराहट के साथ टिप्पणी जरूर करता था कि तुम्हारी क्रांति मुझे कंगाल बनाये दे रही है।

उन छह सप्ताह जेल में रहकर उसने बहुत कुछ सीखा था। उन दर्जनों युवकों के साथ, जो उसी की तरह जेल लाये गये थे, उसने बहुत सी चीजों पर विचार किया था। वह उन नक्सली नेताओं के भाषण भी सुनता था जिन्हें वहां आए हुए काफी समय हो चुका था और इस सबसे बढ़कर उसने बहुत अधिक विचार भी किया। हमला शुरू हो चुका था और उस जैसे युवक प्रायः मुठभेड़ों में मारे जा रहे थे। यह एक और ऐसी चीज थी जिसे वह समझ नहीं पाता था। वह नहीं समझ पाता था कि ऐसा क्यों होता है और कोई इसके खिलाफ आवाज क्यों नहीं उठाता। यदि पुलिस और दलम में गोलीबारी होती है तो वह एक तरह से ठीक भी है। दोनों हथियार बंद होते है और दोनों ही मारने-मरने के लिए तैयार होते है! पर इसके बजाय पुलिस निहत्थे लोगों को क्यों उठा ले जाती है, क्यों उनको गोली से उड़ा देती है। और दलम के साथ झूठी मुठभेड़ों की कहानियां गढ़ लेती है? यदि ऐसा एक या दो बार होता तो समझा भी जा सकता था, पर नहीं, ये घटनाएं दहला देने वाली नियमितता के साथ हो रही थीं। अखबारों ने नागरिक स्वतंत्रता के लिये लड़ने वाले कुछ संगठनों का बयान छापा

था कि पिछले एक साल में ऐसी झूठी मुठभेड़ों में सौ से अधिक, ठीक एक सौ चार लोग मारे जा चुके थे। मुख्यमंत्री ऐसा करने से, निहत्थे लोगों की हत्या करने से पुलिस को रोकता क्यों नहीं था? क्या वह इन घटनाओं से अनजान था? मुख्यमंत्री को उसने एक बार वारंगल में देखा था जहां उसने एक इमारत की आधारशिला रखी थी और एक छोटा सा भाषण दिया था। उसका चेहरा सपाट और आवाज नीरस थी और उसने युवकों को रोजगार एवं किसानों को कर्ज देने के बारे में बहुत सी मीठी-मीठी बातें की थी। उसे किसी ने यह क्यों नहीं बताया कि बहुत से भले युवक जो गांवों में गलत चीजों को सही करना चाहते थे, उन्हें पुलिस यातनाएं दे रही थी और उनकी हत्याएं कर रही थी। यदि उससे कोई इन घटनाओं के बारे में एक शब्द भी कह देता तो सब कुछ ठीक हो जाता। जब भी वह इस विषय में सोचता तो इसे बहुत कुण्ठा होती। जेल में उसने यह प्रश्न किया था। उन लोगों ने बताया कि इस मामले में पुलिस और मुख्यमंत्री की मिलीभगत है, कि पुलिस ये काम मुख्यमंत्री के आदेश पर ही करती है। इस उत्तर से वह संतुष्ट नहीं हुआ था। क्या उसने स्वयं मुख्यमंत्री का भाषण नहीं सुना था? उसमें कहीं भी पुलिस द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली गालियां या गंदी भाषा नहीं थी। मुख्यमंत्री निश्चय ही पुलिस की अपेक्षा अधिक विवेकशील आदमी था। और इसीलिये उसने प्रश्न पूछना नहीं छोड़ा। अगली सुनवाई पर जब उसे वकील मिला तो उसने उससे भी यही पूछा। वकील ने कोई जवाब नहीं दिया। पर उसका साथी हंस पड़ा, बोला मूर्ख मत बनो। पर जब वह पीछे ही पड़ गया तो वह आदमी आश्चर्यजनक रूप से कटु हो गया और उसे कुछ बातें बताई। क्या तुम जानते हो, उसने पूछा, कि मुख्यमंत्री जब स्कूल में पढ़ता था तो उसका पिता तुम्हारे पिता से अधिक गरीब था? क्या तुम जानते हो कि आज यह आदमी अरबों रुपये का मालिक है? क्या तुम्हें पता है कि इस समृद्धि के पीछे कितना झूठ, कितनी धोखाधड़ी और कितनी चोरी छिपी है? क्या तुम्हें मालूम है कि यह आदमी कैसे मुख्यमंत्री बना? क्या तुम्हें मालूम है कि इस आदमी ने 250 स्त्री, पुरुष और बच्चों को हिंदू-मुस्लिम दंगों के नाम पर मरवा दिया और इसे बहाना बनाकर पिछले मुख्यमंत्री को उसकी कुर्सी से हटा दिया और खुद उस कुर्सी पर कब्जा कर लिया। क्या तुम्हें मालूम है.......?

और इसी प्रकार वह प्रश्न पूछता गया। नहीं, वह इन सब बातों को नहीं जानता था और जानकर उसे भारी आघात लगा था। वह विषाद से भर गया। जितना अधिक ज्ञान बढ़ता जाता था उतना ही अधिक वह खिन्न हो जाता था। न्याय और अन्याय के प्रश्न जो शुरू में उसे बहुत सरल और स्वतः प्रमाणित लगते थे, अब बहुत उलझे हुए और कठिन दिखाई देने लगे। कुछ लोगों के पास बहुत अधिक धन था और कुछ लोगों के पास बहुत कम। यह अन्यायपूर्ण था और इस अन्याय को समाप्त करना भी बहुत जरूरी था। यह सबसे पहला काम था, सबसे जरूरी काम जो किया जाना था। यही वह काम था जिसमें हर व्यक्ति को लगा होना चाहिए था। ऐसे लोगों को तो अवश्य ही जो शिक्षित थे, जानकार थे और प्रभावशाली थे। और फिर भी अधिकांश आदमी किन्हीं अन्य कामों में लगे थे। अदालतें और न्यायाधीश क्या कर रहे थे जबकि रोजाना हजारों आदमी जमीन और बेहतर व सम्मानपूर्ण जीवन की चाह करने के अपराध में उनके सामने लाये जा रहे थे? वे कुछ नहीं कर रहे थे, कतई कुछ नहीं कर रहे थे, सब कुछ ऐसे चल रहा था जैसे यह पैशाचिकता हो ही नहीं रही हो। और फिर भी वे बेकार नहीं थे। सब व्यस्त थे, निरंतर व्यस्त थे, किस काम में यह लाख कोशिश करने के बाद भी उसकी समझ में नहीं आया। यही वह बात थी जो उसे बुरी तरह कुंठित कर रही थी। जज, वकील, मुख्यमंत्री, पुलिसवाले, प्रोफेसर जो कार्य उन्हें करना चाहिए था, उसके अलावा अन्य किसी काम में प्रचण्डता से उलझे हुए थे और आश्चर्यजनक रूप से व्यस्त थे। और उसकी तरह के वे लोग जो किये जाने वाले काम में लगे थे, उन्हें पीटा जाता था, यातनाएं दी जाती थीं और मार दिया जाता था। यह सारा अन्याय उसे डंक की तरह चुभता था।

जेल में जैसे-जैसे वह इन बातों पर विचार करता गया उसने अनुभव किया कि इस संसार में ही कोई भयानक दोष है। केवल यही नहीं कि इसमें अन्याय है यह तो वह जानता ही था। पर अब जो बात उसे समझ में आ रही थी वह यह थी कि कोई भी इस अन्याय को समाप्त नहीं करना चाहता था। समस्या की जड़ यही थी जिसे वह अब तक समझ नहीं पाया था। वह इस बात को स्वयं सिद्ध माने बैठा था कि अन्याय यदि दिखायी देता है तो हर व्यक्ति चाहेगा कि उसे समाप्त कर दिया जाये। पर अब उसे यह बात ज्यादा अच्छी तरह समझ में आ रही थी। सब लोग अन्याय के बारे में बातें कर रहे थे पर यह नहीं चाहते थे कि उसे समाप्त कर दिया जाए और वे लोग जो उसे समाप्त करने की कोशश कर रहे थे उन्हें पीटा जाता था, जेल भेज दिया जाता था और मार दिया जाता था।

यही सब सोचते-सोचते जब वह जेल से छूटा तो उसने फैसला कर लिया था कि यह लड़ाई उसके बस की नहीं है और यह सब कुछ वह छोड़ देगा। इस मामले पर उसने अपने गांव के साथियों से बात नहीं की। उनमें से अधिकांश गिरफ्तार हो चुके थे। उनमें से एक दो ने चुपचाप पीछे हट जाने और मिलों में काम तलाशने के लिए भिवंडी या सूरत चले जाने का फैसला कर लिया था। उसे डर था कि दूसरे लोग उसे कायर कहेंगे। वे लोग हमेशा से उसकी तुलना में कम भोले थे, वे शुरू से जानते थे कि उन्हें यातनाएं सहनी ही पड़ेंगी, कि भारी कष्ट उठाने के बाद ही यह दुनिया ठीक की जा सकती है, और वे लोग इसके लिए तैयार थे। वे दूसरों से भी अपेक्षा करते थे कि इसके लिए तैयार रहें।

इसलिए उसने उन लोगों से तो कुछ नहीं कहा परन्तु शान्त हो जाने का निश्चय कर लिया। पर ऐसे निश्चयों को बनाये रखना आसान नहीं होता। गांव में वापस पहुंचकर उसने पाया कि उसका पुराना गुस्सा फिर सिर उठा रहा है। चीजों ने फिर अपना प्रारम्भिक परिप्रेक्ष्य ग्रहण कर लिया है, सही और गलत, न्यायोचित और अन्यायपूर्ण। जब एक शराब ठेकेदार के चमचे ने पुलिस की उपस्थिति से प्रोत्साहित होकर गांव में शराब की एक दुकान खोल दी तो उसने अपने साथियों के साथ जाकर उस पर हमला कर दिया। उन्होंने शराब के डब्बे जला दिये और उसे तब तक ठोकरें मारते रहे जब तक वह जीवन की भीख न मांगने लगा। इस प्रकार एक घटना उसे दूसरी घटना की ओर ले गई और जल्दी ही उसने खुद को फिर गहरे तक धंसा हुआ पाया। और कैसे न धंसता? वह कभी अपने आपको माफ नहीं कर पाता यदि वह इसमें न उलझता और दूसरे लोग उलझते और कष्ट उठाते रहते। केवल यही नहीं। एक अन्य बात भी थी। उसने उस बात की व्याख्या करने की कोशिश की। वह एक ईमानदार व्यक्ति था, उसने सोचने का प्रयत्न किया, और एक ईमानदार व्यक्ति के लिए कार्य करना और उसे सोचना, उसे विचारों में जीना एक ही और अभिन्न बात है। अन्याय के सामने वह निष्क्रियता के विचारों में जीना एक ही और अभिन्न बात है। अन्याय के सामने वह निष्क्रियता के विचारों में नहीं जी सकता था। उसने हमेशा से दुनिया के बारे में प्राथमिक शब्दावली में सोचा था, सही-गलत और समानता-असमानता, अच्छे और बुरे की शब्दावली में अब पीछे हट जाना समझौतापरस्त शब्दावली में सोचना होता और इसे वह ढोंग समझता था।

जीप अचानक रुक गई और वह झटका खाकर अपने विचारों से बाहर आ गया। वह आश्वस्त नहीं था कि वह पूरे होश में है भी या नहीं। उसके सिर में पूरी प्रबलता से तीव्र धड़कता हुआ दर्द हो रहा था। वह अपने आपको बुरी तरह बीमार अनुभव कर रहा था। पुलिस के जवानों ने उसे बाहर धकेल दिया और उसने पाया कि वह वारंगल के बीचों बीच मरवाड़ा पुलिस स्टेशन पर

है। उसने स्वयं को ज्यादा सुरक्षित अनुभव किया और जवानों के पीछे-पीछे थाने में चला गया। किसी ने उससे बात नहीं की। उसे एक बदबूदार लेकिन बड़ी सी कोठरी में धकेल दिया।

वह बैठ गया और बाहर जवानों की ओर सावधानी से देखता हुआ दीवार से टिक गया। वह बुरी तरह चाहता था कि लेट जाएं और हाथ पैर फैला लें पर वह उन लोगों को यह सोचने का मौका नहीं देना चाहता था कि वह आराम कर रहा है। यदि उन्हें पता चल जाए कि आप सुखद अनुभव कर रहे हैं तो वे इस सुख को खत्म करने के लिए ही आपकी धुनाई कर डालेंगे। इसलिए वह दीवार से टिक गया और खुद को उतना ही बीमार दिखने दिया जितना वह अनुभव कर रहा था।

उसके जेल से छूटने के बाद शीघ्र ही उसके गांव पर छापों की संख्या बढ़ने लगी थी। अखबारों ने घोषणा की कि सरकार ने निर्ममता से 'नक्सलवादी आंदोलन' को कुचलने का निर्णय कर लिया है। पांच राज्यों के पुलिस अधिकारी मिले और अपनी योजनाओं का समन्वय कर लिया। उन्होंने केन्द्र सरकार से सीमा सुरक्षा बल, भारत-तिब्बत सीमा पुलिस और केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल की कुछ बटालियनों की मांग की। गृहमंत्री ने संवाददाता सम्मेलन में घोषणा की कि ये बटालियनें शीघ्र ही आ जाएंगी।

उसके गांव में पहला बड़ा छापा नवम्बर में पड़ा था। सुबह से काफी पहले का समय था, वह उस समय नींद में था और अस्पष्ट सी आवाजों के कारण जाग गया, जिन्हें वह पहचान नहीं पाया क्योंकि ये सूर्योदय के समय की परिचित आवाजें नहीं थीं। उसने दरवाजा खोलकर बाहर देखा। उसने देखा के पुलिस के सैकड़ों जवान, जो भी गांव वाला उन्हें दिखाई देता उस पर लाठियां चलाते हुए गली में दोनों ओर दौड़ रहे हैं। वे अचानक किसी भी घर के सामने रुकते, लात मारकर दरवाजा खोलते, बिना कुछ कहे या पूछे अन्दर घुस जाते, घर को तहस-नहस कर देते और हर चीज को तोड़ देते। बर्तन, देगची, कटोरियां, चारपाईयां, कुर्सियां, घड़ियां, ट्रांजिस्टर, रेडियो, सबको पत्थर मारकर टुकड़े-टुकड़े कर डालते। अनाज बाहर फेंककर उस पर केरोसीन छिड़क देते। आखिर में वे चुन-चुन कर सबसे अधिक सक्रिय युवकों के घरों की छतें गिरा देते।

यह सब देखता हुआ वह खड़ा नहीं रहा था। अन्य गांवों के अनुभव से वह जानता था कि वे हमेशा यही करते थे। वह यह भी जानता था कि इस विनाश के बाद क्या किया जायेगा। वे सब गांव वालों को पंचायत आफिस के पास या शायद हनुमान मंदिर के पास बरगद के नीचे इक्ट्ठा करेंगे, हर आदमी, औरत और बंच्चे की धुनाई करेंगे, और उस जैसे युवकों को खास इलाज के लिए अलग कर लेंगे, शायद एक मुठभेड़ भी करें जैसा कुछ समय पहले निजामाबाद जिले में किया गया था। अतः वह चुपचाप वहां से खिसक गया और एक अन्जान रास्ते से गांव छोड़ दिया और वारंगल चला गया। वहां पता चला कि यही हुआ जिसका उसने अनुमान लगाया था (सिवाय मुठभेड़ के) और उसके पांच साथियों का मार-मार कर कचूमर निकाल दिया था। शराब के डब्बों में आग लगाने के कारण उन पर टाडा का एक और मुकदमा लाद कर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया था।

इसके साथ ही उन्होंने लोगों के सब्बल, कुदाली और फावड़ा लाकर शहीद स्मारक को, जिसे बनाने में उसने और उसके साथियों ने बहुत मेहनत की थी, तोड़ने को मजबूर किया। यह स्मारक सड़क के दूसरी ओर के गांव के दो नक्सलवादियों की स्मृतियों में बनाया गया था, जो पांच साल पहले एक मुठभेड़ में मारे गये थे; उस गांव में अब ऐसा कोई आदमी नहीं था जो उस स्मारक को बनवाने का भार उठाने को तैयार होता इसलिए उसने और उसके साथियों ने उसे अपने गांव में बनवाने का दायित्व लिया और उसके लिये धन और सामान जमा किया था। पुलिस को इन स्मारकों से विशेष नफरत थी जो पिछले दो वर्षों में एक के बाद एक गांवो में खड़े हो गये थे। वह जब भी गावों में छापा मारने जाती इन स्मारकों को उन्हीं लोगों द्वारा तुड़ा देती थी जिन्होंने उन्हें बनाया था। अपने गांव में हुए इस विनाश के बारे में उसे दो दिन बाद अखबार की रिपोर्ट से पता चला था जिसमें उसके पिता को, उसके साहसी पिता को, यह कहते हुए उद्धृत किया गया था कि यह एक बहुत बुरा काम था जिसे करने के लिये पुलिस ने लोगों को मजबूर किया, और यह कहते हुए उन्हें कोई परवाह नहीं है चाहे जो भी हो।

पुलिस स्टेशन में अचानक हुए शोर से वह सजग हो गया। उसने अनुभव किया कि वह लुढ़क गया था और पूरी तरह फैलकर फर्श पर लेटा हुआ था। वह उठ पड़ा और फिर पुरानी स्थिति में बैठ गया और उत्सुकता से बाहर देखने लगा। पुलिस के बहुत से जवान अन्दर आ गये थे और वे उत्तेजित लेकिन धीमी आवाजों में बातें करने लगे। कुछ और बत्तियां जला दी गई थीं। जवान बाहर और भीतर आ जा रहे थे। उत्तेजना दस मिनटों तक रही और फिर अचानक थाने के हैड कांस्टेबिल को अकेला छोड़कर सब बाहर चले गये। फिर से अधिकांश बत्तियां बुझा दी गई और पहले जैसा ही अंधेरा सा छा गया। हैड कांस्टेबिल इन्सपेक्टर के कमरे में आगे को झुककर बैठ गया और उसकी कोठरी की ओर पैनी निगाहों से देखने लगा। वह उसे देर तक बिना पलक झपकाये देखता रहा। उसकी टकटकी से वह बहुत विचलित हो गया। उसने दूसरी ओर देखने की कोशिश की पर उसकी निगाहें लौट-लौट कर हैड की आंखो से मिल जाती थी। उसकी आंखो में एक गूढ़ किन्तु निश्चित अर्थ था जिसके कारण उसका पेट ऐंठने और संकुचित होने लगा। उसने कोशिश करके करवट ले ली और कोठरी की पिछली दीवार की ओर मुंह कर लिया। कुछ देर बाद उसने हैड कांस्टबिल को बाहर जाते हुए सुना ओर थोड़ी राहत की सांस ली।

छापा पड़ने के दो सप्ताह बाद वह अपने गांव वापिस आया था। गांव में शान्ति थी पर प्रत्येक चेहरे पर भय स्पष्ट दिखायी देता था। बल्कि कुछ लोगों ने तो उससे बात करने से भी बचना चाहा। दूसरे लोग उससे जल्दी-जल्दी बात करते थे और मुड़-मुड़ कर पीछे देख लेते थे जैसे कोई उन पर निगाह रखे हो। वह उन साथियों के घर भी गया जिन्हें पुलिस छापे के बाद गिरफ्तार करके ले गयी थीं; उनकी माताएं कितनी बुरी तरह रो रही थीं। वे रोते-रोते कहती जाती थीं कि वह वारंगल चला जाए और नागरिक अधिकारों के उस वकील से बात करे और उन्हें जमानत पर छुड़ा लाए। उसने वादा किया कि वह ऐसा ही करेगा, पर अचानक वे बोलीं कि नहीं! तुम मत जाओ, तुम इस नरक को छोड़कर हैदराबाद, बम्बई या कहीं और चले जाओ जहां से लोग तुम्हें पकड़ न सकें यदि उन्होंने पकड़ लिया तो वे लोग तुम्हें मार डालेंगे, पिछली बार वे तुम्हे खोज रहे थे। तब वह भी रोने लगा, बोला कि अपने दोस्तों के बगैर वह कहीं नहीं जाएगा। उसने वादा किया कि वह उन्हें जमानत पर छुड़वाएगा और तब वे सब वहां से चले जाएंगे।

वह फौरन ही वारंगल नहीं गया था क्योंकि उसी दिन नक्सलवादियों ने एक पुराने कांग्रेसी को मार डाला था, जो प्रधानमंत्री का एक अच्छा दोस्त था। अखबारों ने लिखा था कि वह एक स्वतंत्रता सेनानी था। शायद रहा होगा। पर उन्हें वह भी लिखना चाहिए था कि वह एक दुष्ट आदमी था, एक हिंसक आदमी था और जमीन हड़पने के लिये बदनाम था। आखिरकार जब एक नक्सलवादी पुलिस द्वारा मारा जाता है तो अखबार उसके द्वारा किये हुए सभी अपराधों के बारे में लिखते हैं। इतनी हत्याएं, इतनी आगजनी, इतने अन्य अपराध। जब एक कांग्रेसी मारा जाता है तो वे इसी तरह क्यों नहीं लिखते।

उसने सोचा था कि वह कुछ दिन प्रतीक्षा करने के बाद जाएगा और उस वकील से मिलेगा। लेकिन ऐसा होना नहीं था। दो दिन बाद उस वकील

की पुलिस ने हत्या कर दी। पुलिस वालों ने उसके घर जाकर कहा कि वे उससे मिलना चाहते हैं, और जब वह उनसे मिलने बाहर आया तो उन्होंने उसके सिर और छाती पर गोली मार दी थी। जब उसने यह खबर पढ़ी थी तो उसे कितना बड़ा आघात लगा था। वह वकील कितना भला, सज्जन और समर्पित आदमी था। उस आदमी में कोई एक भी बुराई नहीं दिखा सकता था और ऐसा आदमी भी पुलिस ने मार डाला था। उसने स्वयं को बहुत एकाकी अनुभव किया, जैसे संकट के समय सहारा देने वाली एक ठोस चट्टान उसने खो दी हो।

पर इसके बाद घटनाएं तेजी से घटने लगीं। वकील की हत्या जैसे एक संकेत हो। सीमा सुरक्षा बल वारंगल में आ गया था और हत्याएं शुरू हो गयी थीं। रोजाना युवकों को उठाकर ले जाया जाता और उनकी हत्याएं कर दी जातीं थीं। ये हत्याएं एक निश्चित अन्तराल पर समय चुनकर और सावधानी से की जा रही थी और पूरी तटस्थता और परिशुद्धता के साथ, क्योंकि एस. पी. भारतीय पुलिस में शामिल होने के पहले एक डाक्टर था। "मैं प्रत्येक व्यक्ति को आत्मसमर्पण करने के लिये दो सप्ताह का समय देता हूं ," उसने घोषणा की, "और जो समर्पण नहीं करता है उसे गंभीर नतीजे भुगतने होंगे।" और वह जिले के अलग-अलग स्थानों से उस जैसे युवकों को पकड़ कर और उनकी हत्याएं करके इन नतीजों की ओर इशारा कर रहा था। कभी पूर्व, कभी पश्चिम, कभी उत्तर और कभी दक्षिण चारों ओर युवकों को मारा जा रहा था।

वह डर के मारे पथरा गया था। उसे सलाह देना आसान था, जो कि बहुत से लोग दे रहे थे, कि या तो एस.पी. के पास जाकर सरैंडर कर दो या इस जिले को छोड़ कर कहीं और चले जाओ। सलाह देना आसान था पर कोई भी रास्ता सुरक्षित नहीं था। इस बात की क्या गारंटी थी कि यदि उसने सरैंडर कर दिया तो उसे जीवित छोड़ दिया जाएगा? वे, आखिरकार आतंक पैदा करने के लिये हत्याएं कर रहे थे और इस बात से उन्हें कोई सरोकार नहीं था कि वे किसे मार रहे थे। क्या ऐसी रिपोर्ट नहीं थी कि कई युवक जो आत्मसमर्पण करने के लिये पुलिस के पास गये थे उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया था? एक मामले को तो वह भी पूरे विस्तार से जानता था। एक लड़का कई प्रकार से पूरी सक्रियता के साथ एक दलम की सहायता करता रहा था, पर एस.पी. घोषणा के बाद उसने समर्पण करने और अपनी जान बचाने का फैसला कर लिया था। वह पुलिस इंस्पेक्टर के पास गया और उसे अपने फैसले के बारे में बताया। बताया जाता है कि इस इंस्पेक्टर ने लड़के की खिल्ली उड़ाई और कहा कि क्या तुम हमें मूर्ख समझते हो, कि जब हालात खराब होंगे तो सरैंडर कर दोगे, और जब तुम्हारा पलड़ा भारी होगा तो फिर उन्हीं गतिविधियों में लग जाओगे? नहीं, हम मूर्ख नहीं हैं, उसने कहा था, और उसी शाम उस लड़के को एक नजदीकी गांव के पास गोली मार दी गई थी और मुठभेड़ की मनगढ़न्त कहानी छपवा दी गयी थी।

दूसरी ओर जिले से बाहर चले जाना भी कम खतरनाक नहीं था। पुलिस सोचेगी या कम से कम सोचने का दिखावा करेगी — कि वह भूमिगत हो गया था और उसका जीवन कभी सुरक्षित नहीं रह पायेगा। और इसी प्रकार वह अनिर्णय के बीच झूलता रहा था, और फैसला किया कि वह हालात के संभल जाने की प्रतीक्षा करेगा, और इस दौरान सावधान रहेगा कि पकड़ा न जाये। लेकिन ऐसा सोचना मूर्खता थी। पिछली ही शाम वह पकड़ा गया। वह खेतों से वापस लौटा ही था और कुछ खाकर गांव से जाने ही वाला था, क्योंकि यह उसके एहतियात में शामिल था कि वह घर पर या गांव में कहीं भी न सोये। जैसे ही वह खाना खाने बैठ कि उसे बाहर बड़ा शोरगुल सुनाई दिया। वह समझ गया कि वह पुलिस का छापा था और वह फौरन खिसक जाने और बचकर भाग जाने को तैयार हो गया। पर यह उसका दुर्भाग्य था कि पुलिस सबसे पहले उसी के घर आयी थी। वे दरवाजा पीटने लगे और उसकी मां ने कांपते हुए किवाड़ खोले। वे सीमा सुरक्षा बल के जवान थे जो निश्चय ही उसे नहीं जानते थे। पर तभी उनके कंधों के बीच से एक चेहरा झांका जिसे वह पहचानता था। वह स्थानीय स्पेशल ब्रांच का हैड कांस्टेबिल था जो उसे अच्छी तरह जानता था। उसने जवानों से कुछ कहा और उन्होंने उसे बाहर खींच लिया। तभी उसने देखा कि सीमा सुरक्षा बल के अलावा बहुत बड़ी संख्या में पूरी तरह हथियार बंद सादा वर्दी वाले जवान भी वहां थे। उसे जीप की ओर घसीट ले गये। आशंकाओं से व्याकुल होकर उसने प्रतिरोध करने की मूर्खतापूर्ण कोशिश की थी और उसके माथे पर दुष्टतापूर्वक रायफल का बट मारा गया था। यही समय था जब उसके माथे पर गहरा घाव बना था.....।

अचानक एक जवान द्वारा लाठी से ठेलने पर वह जाग गया। हवालात की कोठरी में वे पांच थे, सभी सादा कपड़ों में और स्टेनगन लिये हुए, और कोठरी तेज रोशनी से उसी तरह प्रकाशित थी और जैसे पूरा थाना। उन्होंने उसे कुपित दृष्टि से देखा और एक जवान ने उसके पेट में लात मारने का अभिनय किया। वह आशंका से सिकुड़ गया और जब लात नहीं लगी तो सिमटकर कोठरी की पिछली दीवार से सट कर बैठ गया। अधिक से अधिक इतनी ही दूर वह पुलिस के जवानों से दूर जा सकता था। वह अपने घुटने को बाहों में जकड़े हुए उनकी ओर देख रहा था। वे स्पष्टतः नशे में थे, बहुत अधिक नशे में थे, पर उनकी आंखों में नशे से अधिक एक और चीज थी। एक प्रचण्ड रोष था, एक पाशविक रोष, जो पहले किसी मनुष्य की आंखों में उसने नहीं देखा था, बल्कि किसी पुलिस वाले की आंखों में भी नहीं देखा था।

हमेशा की तरह सुबह हुई, चमकीली और ठण्डी सुबह, और यह देखते हुए कि शिवरात्रि कुछ ही सप्ताह दूर थी, कुछ अधिक ही ठंडी लग रही थी। लोग हमेशा की तरह अखबार पढ़ रहे थे और अन्य खबरों के अलावा वे खबरें भी पढ़ रहे थे जिनमें बताया गया था कि पिछले दिनों पुलिस ने किन-किन गांवों को आतंकित किया और कितने लोगों की मुठभेड़ों में हत्या की। अखबारों में पिछली रात की घटनाओं का कोई उल्लेख नहीं था; क्योंकि वे इतनी देर से घटित हुई थी कि सुबह के अखबारों में नहीं आ सकती थी। पर शहर में तेजी से अफवाहें फैल गई थीं कि नक्सलवादियों ने मध्यरात्रि के आसपास वारंगल शहर के बाहरी इलाके में पुलिस की एक जीप को भूमिगत सुरंग से उड़ाने की कोशिश की थी, लेकिन संयोग से पुलिस वाले बच गये थे। वे क्रुद्ध होकर शहर से वापस आये और उग्रवादियों को तलाश करने लगे। अफवाहों के अनुसार उन्हें मरवाड़ा थाने की हवालात में बंद कर एक आदमी का पता चला जो गुंडेप्पाड़ के पास के एक गांव के छापे में पकड़ कर लाया गया था। वे उसे पकड़कर उसी जगह ले गये जहां सुरंग लगाई गई थी, उसे भागने को कहा और पीछे से गोली मार दी। उसे सोलह गोली मारी गई थीं। पुलिस का एस.पी. प्रेस कांफ्रेन्स की तैयार कर रहा था "जहां वह पूरा विवरण देगा कि किस प्रकार जीप को सुरंग से उड़ाने की कोशिश की गयी और उसके बाद मुठभेड़ में जो तीन घंटे चली और जिसमें तीन सौ राउण्ड गोलियां चलाई गईं, एक अज्ञात नक्सलवादी मारा गया और तीन जवान घायल हुए, जिनके नाम, घायल अंगों, अवस्था की गंभीरता और अस्पताल जहां वे भरती हैं, के बारे में कुछ नहीं बतायेगा। 'मृत नक्सलवादी के पास', लोग अगले दिन अखबारों में पढ़ेंगे, एक ए. के. 47 असाल्ट रायफल और कुछ कागजात पाये गये जिनसे साबित होता था कि वह एक प्रमुख भूमिगत संगठनकर्ता, असल में कोमरन्ना दलम का डिप्टी कमांडर था।

अनुवाद : ओमप्रकाश

(**विकल्प**, प्रवेशांक से साभार)

जन्मदिवस (25 सितम्बर) के अवसर पर

लू शुन की तीन कविताएं

सपने

इस धुंधलके में कई सपने बेचैन करते हैं।
एक सपना दूसरे सपने को निष्कासित कर देता है
और किसी तीसरे सपने से खुद-ब-खुद नष्ट हो जाता है।
निष्कासित सपना स्याही की तरह काला होता है
और जो टिका रहता है वह भी कम काला नहीं होता
मानो दोनों कह रहे हों : "हमें देखो, कितनी गहरी है हमारी रंगत।"
हो सकता है वे बहुत अच्छे हों, लेकिन इस अंधेरे में
यह कहना मुश्किल है... अंधेरे में तो यह भी पता नहीं चलता
कि उनमें से कौन बोल रहा है?

घना अंधेरा छाया है,
सिरदर्द और बुखार में पड़े तुम कह नहीं सकते...
आओ, मेरे अच्छे सपने, तनिक मेरे पास आओ.....

वह

झींगुरो, खामोश रहो,
वह सोयी है अपने कक्ष में
और तुम्हारी हरेक चीज उसके जेहन में पैबस्त है
सांझ को झींगुर चुप हो जाते हैं
मगर फिर भी वह अदृश्य बनी रहती है,
दरवाजे पर जंग खायी सांकलें लटकी मिलेंगी।

पतझर की हवा चलने लगी है,
कुछ ही पलों में पर्दे सरसराने लगेंगे
और जब पूरे खुलेंगे तो उसके गालों के हसीन गड्ढे दिखाई देंगे।
लेकिन कुछ देर बाद सिर्फ सफेद दीवारें
और सूखी पत्तियां बिखरी हुई दिखाई देंगी

बर्फ गिर चुकी है,
उसे खोजने के लिए साफ करो यह रास्ता,
वह पगडंडी चीड़ों से आच्छादित शिखरों तक जाती है।
वह एक पुल की मानिन्द है;
यहां अभी तक भला क्यों ठहरी होगी?
मुझे उसे पाने के लिए लौटना चाहिए.....
और मैं हूं कि लौट कर घर में पड़ा हूं!

नागरिक शास्त्र का गीत

जनरल ही चिएन* एक कुशल शिक्षक भी हैं,
उन्होंने हमें बताया कि स्कूलों में क्या-क्या करना जरूरी है
सबसे पहले तो नागरिक शास्त्र के पाठ्यक्रम के बारे में....
शायद आपको ताज्जुब हो.... थोड़ा धीरज रखिए,
मैं एक किताब तैयार कर रहा हूं...
यह विषय इतना आसान नहीं है.... आपको हर तरह की
सावधानी बरतनी होगी..
आपको उनके हरेक काम को तरजीह देनी होगी।
एक सुअर या फिर एक भैंसे की तरह मशक्कत करो...
जब तक जिंदा हो काम करते रहो... मरने के बाद भोज के लिए...
और अगर बीमार पड़ो तो कसाईखाने के लिए तैयार रहो।
दूसरा पाठ : झुक कर सलाम करने का हुनर सीखो....
पहले शक्तिशाली जनरल के आगे, फिर महान दार्शनिक
कन्फ्यूशियस के आगे
अगर जिंदा रहना चाहते हो तो....
तीसरा पाठ : प्रेम कभी मत करना... प्रेम विवाह मात्र संयोग है...
उन्नीसवीं उप-पत्नी होना ज्यादा ठीक है...
तुम्हारा नैतिक आचरण साफ-सुथरा होना चाहिए
हजार टकों में बिको और अपने मां-बाप
के लिए सोने की खान बनो....
चौथा पाठ : जो कहा जाये वही करो और महान नेता के
छोटे से छोटे आदेश का पालन करो...
दरअसल, शासितों को वे ही उनके कर्तव्यों का ज्ञान करा सकते हैं।
लेकिन एक और हिदायत तुम्हें देता हूं
मेरी किताब के भरोसे मत रहना...
हो सकता है हमारे महान नेता अपने विचार बदल दें
और मैं तब एक "प्रतिक्रियावादी जनशत्रु" घोषित कर दिया जाऊं...

* ही चियन (1887-1956) कुओमिनताङ के शासन में हुनान प्रांत का गवर्नर था। लू शुन चीनी समाज को पारम्परिक सोच और नैतिकता की जकड़बंदी से मुक्त करने के लिए संघर्षरत थे। इस कविता में फासीवादी मनोवृत्ति पर तीखा कटाक्ष है।

अनुवाद : **ऋतुराज**
(साभार : समकालीन लोकशासन)

ताचाई की कहानी

• चिआ वेन - लिंङ

पूरब में एक बार फिर जागरण की सुगबुगाहट सी है। तथाकथित 'बाजार समाजवाद' की नीतियों, निजीकरण आदि से हो रही तबाही के विरुद्ध चीन के कई प्रान्तों में हुए किसान विद्रोहों की खबरें आ चुकी है। लगातार जारी दुष्प्रचार के बावजूद माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में हुई महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति काल के साहित्य और फिल्मों के प्रति जनता में आकर्षण बढ़ता जा रहा है। माओ की पुस्तकें सर्वाधिक बिकने वाला साहित्य है। गांवों में किसान माओ की याद में प्रतिमाएं खड़ी कर रहे हैं।

दूसरी तरफ पूंजीवाद का संकट चीन में नग्न रूप में सामने आने लगा है। खुले पूंजीवाद और 'उत्पादक शक्तियों के विकास के सिद्धान्त' की विकृतियां समाज में बढ़ती खाई, भयंकर भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, महंगाई के रूप में फूट रही है। ऐसे समय में माओ के नेतृत्व में हुए महान समाजवादी प्रयोगों को याद करना जरूरी है जब 'राजनीति को कमान में रखो, उत्पादन को आगे बढ़ाओ' के नारे के तहत एक अति पिछड़े देश को कुछ ही वर्षों में शक्तिशाली राष्ट्रों की कतार में ला खड़ा किया गया था। उत्पादक शक्तियों के अन्धे विकास के आगे घुटने टेकने के बजाय क्रान्ति को निरन्तर जारी रखते हुए जनता की सर्जनात्मकता को निर्बन्ध करके विकास की काल्पनिक सी लगने वाली गाथाएं रची गयी थीं। उद्योग के क्षेत्र में ताचिङ और कृषि के क्षेत्र में ताचाई के माडल पूरी दुनिया में चर्चा के विषय बन गये थे। हम यहां ताचाई में हुए प्रयोगों की एक झलक प्रस्तुत कर रहे हैं। पाठक इसे आज के चीन के समकक्ष रखकर देखें, तो बहुत कुछ समझा जा सकता है। साथ ही, ही इसपर भी गौर करें कि जब जनता के हाथों में वास्तविक सत्ता आती है और उसकी सर्जनात्मक ऊर्जा जाग उठती है तो कैसी असम्भव लगने वाली उपलब्धियां हासिल की जा सकती हैं। –सम्पादक

मुक्ति से पूर्व, इस गरीब गांव के बारे में इससे 30 ली (15 कि.मी.) से अधिक दूर कोई सुना भी न था। ताचाई में केवल 800 माऊ बेढब जमीन थी जो टाइगर हेड माउण्टेन की तलहटी में सात नालों, आठ टीलों और एक ढलान के ऊपर टुकड़ों में बिखरी हुई थी। सबसे बड़े दो खेतों में से प्रत्येक 5 माऊ से अधिक का न था, और सबसे छोटा खेत तो एक माऊ के 1\10 से भी कम था। ऊंची पथरीली पहाड़ियों पर मिट्टी लोहे जैसी सख्त थी जो झुलसा देने वाली हवाओं की मार से सूखी हुई थी। अपवाद रूप से किसी बढ़िया साल में भी, प्रति माऊ अनाज की पैदावार 140 कातियों से अधिक न थी। इसका अधिकांश तो एक जमींदार और तीन धनी किसानों को चला जाता था। गांव में 48 परिवार गरीब या निम्न मध्यम किसानों के थे, जिनमें से 30 परिवार भाड़े के मजदूर के तौर पर बाहर काम करते थे, उनमें से 13 को भीख मांगने बाहर जाना पड़ता था। ताचाई के लोगों को घास-भूसा और जंगली वनस्पतियों पर गुजारा करना पड़ता था। हालांकि यह काउण्टी कस्बा सियाङ से सिर्फ 10 ली पर ही था, फिर भी टैक्स वसूलने वालों के अलावा वहां और कोई भी नहीं आता था।

आखिर अगस्त 1945 में मुक्ति का लाल झण्डा सियाङ में आ ही गया। भूमि सुधार की आंधी चलने लगी। चेन युङ कुएई और अन्य साथियों ने पार्टी के नेतृत्व में जमींदार को बेदखल कर दिया और उसकी जमीन जब्त कर ली। भूखे-नंगे लोग उठ खड़े हो गये।

लेकिन वे बदहाली की हद तक गरीब थे। ताचाई को भूमि सुधार के बाद कौन सा मार्ग अपनाना चाहिए? इसके लिए एकदम परस्पर विरोधी दो जवाब दिये गये। एक था संगठित होकर समाजवादी सामूहीकरण के मार्ग पर चलना। यह वह मार्ग था जिसे चेयरमैन माओ ने बताया था : कृषि के सामूहिकरण के बिना, कोई भी पूर्ण सुदृढ़ीकृत समाजवाद नहीं हो सकता? दूसरा रास्ता था प्रत्येक परिवार द्वारा व्यक्तिगत खेती को जारी रखने का। यह पूंजीवादी रास्ता था जिसकी वकालत ल्यू शाओ ची करता था : 'औद्योगीकरण के बिना सामूहिकीरण नहीं हो सकता।'

लेकिन ताचाई के मुक्त किसान माओ की शिक्षाओं पर डटे रहे। चेन युङ कुएई ने कहा, "यदि मुक्त हुए किसान अपनी व्यक्तिगत खेती जारी रखते रहे, तब वे पुराने समाज की अपनी स्थिति से भिन्न कैसे हैं? अगर लोग संगठित हों तो वे पहाड़ों को भी हिला सकते हैं। यदि हम अपने बच्चों और अपनी भावी पीढ़ियों को गरीबी से छुटकारा दिलाना चाहते हैं तो हमें आपस में संगठित होना होगा और अध्यक्ष माओ द्वारा बताये गये समाजवादी सामूहिकीरण के रास्ते पर चलना होगा।"

उसने ताचाई के गरीब और निम्न मध्यम किसानों के साथ बहुत सी बातें की; वे आपसी सहयोग और सहकार में आ खड़े हुए।

लेकिन कुछ अच्छे खाते-पीते किसान सोचते थे कि ये भुक्खड़ उनके 'लाभ छीन लेंगे', और उन्होंने उन्हें शिकस्त देने की पूरी-पूरी कोशिश की। उन्होंने अपनी ही तरह के लोगों का एक ग्रुप तैयार किया जिसमें गरीब किसानों में से कुछ सबसे अच्छे फार्म मजदूर भी थे उनको लिया और दबंग लोगों की टीम (stout fellow team) गठित की। हालांकि वे अपने आपको एक पारस्परिक सहयोग टीम (mutual aid team) कहते थे, लेकिन दरअसल उनमें से हर कोई अपनी निजी खेती करना जारी रखे हुए था। चूंकि चेन युङ-कुएई 30 से 40 वर्ष के बीच का एक दबंग नौजवान था, अतः उन्होंने उसे भी अपनी टीम में शामिल कर लिया। लेकिन चेन युङ कुएई तो दूसरे रास्ते सहकारी पथ पर चलने के लिए दृढ़ संकल्प था। उसने उस रास्ते को नामंजूर कर दिया जिसके तहत उन्होंने गरीब और निम्न मध्यम किसानों को छांट दिया था; अतः वह टीम से निकल गया। उसने बाकी बचे 9 परिवारों को संगठित किया जिसमें 50 वर्ष से ऊपर के 4 लोग थे और 11 से 16 वर्ष के बीच

के पांच लड़के शामिल थे। यह वास्तव में एक पारस्परिक सहयोग टीम थी। लेकिन stout fellow team वालों ने इसको बुड्ढों और छोकरों की टीम (old and young team) नाम दिया।

इस टीम के गठन ने ढेर सारी बातें पैदा कर दीं। अच्छे खाते-पीते मध्यम किसान नाक-भौं सिकोड़कर कहते, "चेन युङ कुएई की टीम के बुड्ढे तो कब्र में पांव लटकाये हुए हैं, और छोकरे तो खेतीबारी का क ख ग भी नहीं जानते। ये लोग क्या कर पायेंगे। हम लोगों को जल्द ही कोई न कोई खिलवाड़ देखने को मिलेगा।' कुछेक सहानुभूति दिखाने का नाटक करते और कहते, 'ज़रा देखो तो इस घामड़ को, एक अव्वल दर्जे का किसान होकर इन बूढ़े खूसटों और छोकरों के झुण्ड के साथ हड्डी तोड़ मेहनत कर रहा है। ज़रूर चेन युङ कुएई का दिमाग खराब हो गया है।' पागल है।

लेकिन न तो नफरत और न सहानुभूति का मरहम ही चेन युङ कुएई को बदल सका। उनके इन टिप्पणियों से वह और भी अधिक दृढ़ संकल्प हुआ तथा अपनी टीम को और ज्यादा सुचारू रूप से संचालित करने लगा। भले ही बुजुर्ग और युवा टीम के पास भारवाही जानवरों की कमी थी, औजारों और मानवशक्ति का अभाव था, फिर भी इसके सदस्य एक नजरिया और एक इच्छा के कायल थे। जिसके कारण पहली ही वर्ष में उन्होंने अच्छी पैदावार की -- जो निस्संदेह दबंग लोगों की टीम से अधिक पैदावार थी। इसने एक उदाहरण प्रस्तुत किया इसने निर्विवाद रूप से संगठित होने के लाभ से ताचाई के लोगों के मन को आश्वस्त कर दिया। उसके बाद जाड़े में गांव के 67 परिवारों में से 49 परिवार चेन युङ कुएई की टीम में शामिल हो गये।

1952 के बसन्त में, चेन युङ कुएई और उसकी टीम के साथी इस बात के लिए उत्सुक थे कि वे अपनी पारस्परिक सहयोग टीम को एक अर्द्धसमाजवादी प्रकार के कोआपरेटिव में तब्दील कर दे।

इसके बाद चेन युङ कुएई ने एक कोआपरेटिव बनाने की सोची इसके लिए ताचाई के गरीब और निम्न मध्यम किसानों की मांग को लेकर काउण्टी कस्बे के 10-12 बार चक्कर लगाये, लेकिन काउण्टी के अधिकारी इसकी अनुमति देने का साहस न कर सके कारण कि वे ल्यू शाओ ची और शेन्सी प्रान्त के ल्यू शाओ ची के एजेण्टों के दबाव में थे। चेन युङ कुएई को अनुमति तब मिली जब कृषि सहकार का उफनता हुआ ज्वार 1953 में पूरे देश में चलने लगा था तब भी उन्होंने माओ के रास्ते को अपनाकर बेमन से इसकी मंजूरी दी।

चेन युङ कुएई की टीम 49 परिवारों की एक बड़ी टीम थी, लेकिन काउण्टी एक कोआपरेटिव में 30 से अधिक परिवारों की अनुमति नहीं देती थी। चूंकि टीम के सदस्यों में से कोई भी अपनी व्यक्तिगत खेती की ओर वापस नहीं जाना चाहता था, इसलिए चेन युङ कुएई, जो कोआपरेटिव का चेयरमैन चुना गया था, दो प्रकार के बही खाते रखता था, एक तीस परिवारों के लिए दूसरा 49 परिवारों के लिए गुप्त बहीखाता। जब खरीफ फसलों के बंटवारे का समय आया, तब काउण्टी के कैडरों को इसका पता चल गया और उन्होंने इनकी खबर ली। फिर भी उस वर्ष कोऑपरेटिव की औसत उपज 237 काती प्रति माऊ तक हुई। इससे कोआपरेटिव के सदस्यों का सामूहिकीकरण में विश्वास और दृढ़ हो गया और उन्होंने बंजर पर्वतीय क्षेत्र को उत्पादनशील बनाने के लिए एक दस वर्षीय योजना बनायी। अपनी सामूहिक सामर्थ्य पर भरोसा करके उन्होंने ताचाई की गरीबी और पिछड़ेपन को दूर करने की ठान ली..।

ग्रीष्म ऋतु 1963 ताचाई की फसलें हरी-भरी थीं। कम्यून के सदस्यों में बढ़िया पैदावार का उल्लास था। जहां तक पैदावार की बात थी, ताचाई की पैदावार तो पहले ही ये ली नदी के आसपास की औसत पैदावार को पछाड़ चुकी थी। अब उन्होंने 800 काती प्रति माऊ से अधिक पैदावार करने का निश्चय किया।

तभी अप्रत्याशित घटना घटी। उस शताब्दी की सबसे भारी बारिश और बाढ़ ने भयानक तबाही मचा दी।

2 से 8 अगस्त तक भारी वर्षा होती रही। इस एक सप्ताह की बारिश ने जिले को बाढ़ में डुबो दिया -- इतनी बरसात कि जो 1962 की समूची बरसात के बराबर थी। ताचाई के लोगों को इससे पहले कभी इतनी कठिन परीक्षा का सामना नहीं करना पड़ा था...।

बरसात अन्ततः रुकी, लेकिन मौसम खराब ही बना रहा। चेन युङ कुएई और अन्य कैडरों ने जल्दी से एक मीटिंग बुलाई और गांव वालों के मकान की समस्या पर विचार-विमर्श किया। इसको तय करने के बाद वह झटपट खेतों को देखने चल पड़ा। बाढ़ के पानी ने जंगली जानवरों की तरह आक्रमण कर दिया था -- नुकसान भयानक था! बाढ़ से भूस्खलन हुआ था, सारे खेत बह गये थे, मकान ध्वस्त हो गये थे, गुफा-घर धसककर गिर गये थे। नालों के बीच की कृषि-भूमि जिसके उत्पादनशील बनाने में 10 वर्ष लगे थे, बह गयी थी। पहाड़ियों की अधिकांश जमीन के बाहरी किनारे कट-फट गये थे। कुछ जगहों पर निचली मिट्टी सरक गयी थी, धरती ने अपना मुंह फाड़ लिया था, फसलें गिरकर सपाट हो गयी थीं। गांव में 100 घर और 100 से अधिक गुफा-घर रहे होंगे। जिनमें से 70 % घर ढह गये थे, गांव वासी बेघर हो चुके थे, पशुओं के लिए कोई शरण न थे। अस्सी से अधिक उम्र के बूढ़ों को भी इस तरह की कोई विपदा याद न थी। इसका मतलब था पिछले सौ सालों में ऐसा कभी नहीं हुआ था।

क्या ताचाई के लोग इतनी भीषण विपदा से निजात पा सकते थे? इससे निजात पाने के लिए वे किस पर भरोसा कर सकते थे। चेन युङ कुएई ने इन सवालों पर ठीक से विचार-विमर्श करने के लिए एक मीटिंग बुलाई। कुछ कम्यून सदस्यों ने कहा कि चूंकि ताचाई ने सहकार के बाद से अब तक के 11 वर्षों में राज्य को 1,758,000 कातियों से अधिक अनाज बेच अपना पूरा कर्तव्य निभाया है, और अब जबकि उन पर मुसीबत आ पड़ी है तो राज्य को चाहिए कि वह हमारी मदद करें। कुछेक कैडरों का ख्याल था कि कर्ज विचारधारात्मक समस्याओं को कम कर देना और उनके काम को सुगम बनायेगा। लेकिन अधिकांश सदस्य राहत मांगने के खिलाफ थे। उनका कहना था कि अगर ताचाई ब्रिगेड मुक्ति न हुआ होता तो जिन्दा नहीं रह गया होता। यदि चेयरमैन माओ और पार्टी ने उन्हें सामूहिकीरण के पथ पर नेतृत्व नहीं प्रदान किया होता, अगर राज्य ने उनकी सरपरस्ती न की होती तो ताचाई देश के लिए कुछ न कर सका होता।

पुराने पार्टी सदस्य चिआ चिन त्साई ने दृढ़तापूर्वक कही : 'हम इस पथ पर स्वयं चल सकते हैं, बिना किसी सहारे के। राज्य को उनको राहत देने दो जिन्हें सचमुच इसकी जरूरत है।'

इस बात ने चेन युङ कुएई के राहत के लिए दरख्वास्त न करने के इरादे को और दृढ़ बनाया। लेकिन आत्म निर्भरता को जन कार्यवाही में कैसे तब्दील किया जाये? गांववासियों के क्रान्तिकारी आवेग को कैसे तीव्र किया जाये? वह इन सवालों पर सोचना शुरू किया। खेतों में, खाना खाते समय और सोते वक्त हर वक्त गम्भीरता से सोचता रहा। अन्ततः उसने आत्म-निर्भरता की जनता की दलीलों को राज्य से राहत न पाने के दस कारणों -- दस बड़े

लाभों के रूप में सूचित किया।

1. यह राज्य के हित में था। देश के निर्माण के लिए धन की जरूरत थी। यदि ताचाई राजकीय सदस्यता के बिना ही काम चला ले तो यह राज्य की सहायता करना और समाजवाद का निर्माण करने जैसा ही होगा।

2. यह कलेक्टिव के हित में था। स्वयं अपने ही प्रयास से कठिनाइयों से निजात पाना उनकी सामूहिक अर्थव्यवस्था की ताकत को और अभिव्यक्त ही करेगा तथा गावंवासियों को सामूहिकीकरण से और अधिक प्रेम करने की प्रेरणा देगा।

3. यह कैडरों के लिए अच्छा था। आत्मनिर्भरता उन्हें और निखारेगी और अपने दिमाग का और अधिक इस्तेमाल करने को विवश करेगी।

4. यह कम्यून सदस्यों के हित में था। यह दूसरों के ऊपर निर्भर होने के किसी भी विचार से निजात दिलायेगा तथा यह उन्हें कठिन और बिना थके काम करने के लिए प्रोत्साहित करेगा।

5. स्वयं अपने प्रयास से आपदा पर विजय पाने से गरीब और मध्यम किसान का निश्चय और अधिक दृढ़ होगा तथा वर्ग शत्रु की हेकड़ी को ढीला करेगा।

6. यह आगे बढ़े हुए लोगों के समकक्ष पहुंचने तथा उनसे सीखने और पिछड़े हुए लोगों की मदद करने के समाजवाद प्रतिस्पर्द्धा अभियान के लिए अच्छा था।

7. यह उत्पादन बढ़ाने के लिए अच्छा था।

8. यह एक आगे बढ़ी हुई इकाई के गौरव को बनाये रखने के लिए अच्छा था।

9. यह एकता के लिए अच्छा था।

10. यह उत्तराधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए अच्छा था।

इस विश्लेषण ने गांव वालों की सही रोशनी में चीजों को देखने में सहायता की। उनकी सर्वसम्मति एकताबद्ध कार्यवाही में परिणति हुई। चेन युङ कुएई के नेतृत्व में, बूढ़े, जवान, मर्द और औरत काम में लग गये। थोड़े ही समय में (5 दिनों में) 250 माउ भूमि पर बिछी फसलों पौधों को उठाकर सीधा किया जो गिर कर सपाट हो गये थे, और उनमें से अधिकांश खाद देने पर ठीक-ठाक ढंग से बढ़ने लगे। आगे जब जीवन और अधिक व्यवस्थित हो गया, तब उन्होंने खेतों को फिर से ठीक-ठाक करना शुरू कर दिया, वे जाड़े की गेहूं की बुआई के लिए तैयारी तथा उर्वरक जुटाने लगे ताकि अगले वर्ष अच्छी फसल ली जा सके।

बारिश और तूफान मुसीबत पैदा करते रहे, मानो यह ताचाई के लोगों के निश्चय की परीक्षा लेने पर तुल गये थे। ताचाई पर और भी छः विपत्तियां आयीं। दो आंधियां, एक ओले का तूफान, एक भंयकर पाला, बंसत की बाढ़ और गर्मी का सूखा। लेकिन गांववासी, लौहपुरुष की भांति, अपने हाथों पर भरोसा करके, एक के बाद दूसरी विपत्ति पर काबू पाते गये....।

1964 में ताचाई ने अपने इतिहास में सर्वाधिक उपज पैदा की, जिसकी औसत पैदावार 826 काती प्रति माउ और कुल पैदावार 620,000 काती से अधिक पिछले वर्ष की अपेक्षा 200,000 कातियां अधिक..।

अतीत में ताचाई ने कार्य-अंकों का लेखा-जोखा रखने के लिए श्रम-प्रबंध प्रणाली इस्तेमाल की। वहां 100 से अधिक खेती सम्बन्धी विभिन्न काम थे, तथा हरेक के लिए निश्चित कार्य-अंक नियत थे। उन्होंने इसे कई वर्षों तक आजमाया, लेकिन यह बहुत अच्छा सिद्ध नहीं हुआ। ब्रिगेड के सदस्यों ने महसूस किया कि वे इस प्रणाली को अपनी राजनीतिक चेतना पर भरोसा करके ही सुधार सकते थे। अतः ताचाई ने रेकनिंग प्रणाली चालू कर दी थी। हर कोई वही बात कहता जिसके लिए वह अपने में सक्षम महसूस करता और अन्य उसके विश्लेषण -मूल्यांकन पर विचार-विमर्श करते थे। इस नयी प्रणाली के प्रचलन से, ज्यादा लोग काम करने में लग गये और उनकी कार्यदक्षता बढ़ गयी। 1962 में, यानी इस प्रणाली के अपनाये जाने के ठीक पहले के वर्ष में, प्रत्येक पुरुष-स्त्री के औसत कार्य दिवसों की संख्या, तथा पूर्णकालिक भी अंशकालिक मजदूरों के औसत कार्यदिवसों की संख्या 250 थीं। यह बढ़कर 1963 में 260 हो गयी; 1964 में 280 हो गयी। ब्रिगेड के सदस्यों ने इस प्रणाली को पूरी तरह से स्वीकार किया। इसने कार्य-बिन्दुओं के बजाय राजनीतिक चेतना को कमान में रखने की सूझ पैदा की। इसमें 'प्रत्येक को उसके कार्य के अनुसार' का सिद्धान्त निहित था और यह जटिल कार्य बिन्दु कोटा प्रणाली की अपेक्षा अधिक सरल और तर्कसंगत था।

......(पृष्ठ 42 का शेष)........................
जीवन का जो खाका खींचा है वह लोमहर्षक है। इसे पढ़कर ही जाना जा सकता है। भूमण्डलीकरण के दौर में स्त्रियां किस तरह ''बीसवी सदी के निकृष्टतम गुलामों'' की कोटि में खड़ी कर दी गई हैं। और अब, नई आर्थिक नीति लागू होने के बाद भारत भी स्पष्टतः इन्हीं देशों की कतार में शामिल हो गया है।

बीसवीं सदी के अन्त में, भारत जैसे गरीब देशों की मेहनतकश स्त्रियां रोजमर्रे के आम जीवन से अनुपस्थित होती जा रही है। उन्हें देखना हो तो वहां चलना होगा जहां वे छोटे-छोटे कमरों में माइक्रोस्कोप पर निगाहें गड़ायें सोने के सूक्ष्म तारों को सिलिकॉन चिप्स से जोड़ रही है, निर्यात के लिए सिले-सिलाए वस्त्र तैयार करने वाली फैक्टरियों में कटाई-सिलाई कर रही हैं, खिलौने तैयार कर रही हैं या फूड प्रोसेसिंग के काम में लगी हुई हैं। इसके अलावा वे बहुत कम पैसे पर स्कूलों में पढ़ा रही है, टाइपिंग कर रही हैं, करघे पर काम कर रही हैं, सूत कात रही हैं और पहले की तरह बदस्तूर खेतों में भी खट रही हैं। महानगरों में वे दाई नौकरानी का भी काम कर रही हैं और 'बार मेड' का भी।

अनुपस्थित और मौन होकर भी वे हमारे आसपास ही हैं। भूमण्डलीकरण की संजीवनी पी रहे वृद्ध पूंजीवाद के लिए शव-परिधान बुन रही हों शायद! क्या पता!

(प्रांजल फीचर सेवा)

पढ़िए, पढ़ाइए, प्रचारित कीजिए

मजदूरों का इंकलाबी अखबार **बिगुल**

मजदूर वर्ग का क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता
अखबार ही नहीं एक क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता भी

सम्पादक : डा. दूधनाथ **सम्पादकीय कार्यालय** : द्वारा ओ.पी. सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ–226 007

हमारे समयों में

• प्रो. रणधीर सिंह

रात सुंदर है, मिलन के लिए निखरी हो जैसे
मैं तो चाहता हूं, तुम्हारे लिए प्यार का गीत गाना --
सिकुड़ती आती है लेकिन धरती आसपास क्यों
होती जाती है विशाल ही मेरे प्रेम की दुनिया
मैं आज न भूल सकूंगा तुर्की के उस बंदी कवि को
कोठरी की सूनी सुलगती सुलगाती चुप्पी से
पीड़ा भरी वियोग जैसी रात में जो गाता है
अपनी प्रिया के लिए रक्तिम हृदय वाला एक गीत :
उड़ाओ, उड़ाओ, आज अपने इश्क को एक झंडे की तरह
जाग रहे लोगों की वाणी की भीड़ों पर --
पूर्वी हवाओं में आज महक चुंबनों की
मैं भी चाहता हूं कोई सुगन्धि भरा गीत गाना
लेकिन मेरी खुशियां भी आदत सी लगती हैं
जीना हर कदम पर सहारा लेकर ग़म का
प्रीत के हर बस रहे स्निग्ध पल को
तुम्हारी याद की सौ-सौ कामनाओं भरे कोमल दिल को
झुलसाता जाता है एक नाम -- एक द्वीप
मकरौनी साँस -- जिसके पथरीले किवारों पर
आंसू है यूनान का बाग़ी पानी जिन पर
मेहनतों पले युवक और सुगन्धि भरी युवतियां
जिंदगी, इश्क की खुशबू से लदे गीत हजारों
रोज कत्लगाहों से गुजरें ताकि एक दिन
बहारों की, प्यारों की, जवानी भरी ऋतु
धरती के हर आंगन में हंस सके -- खेल सके --
तारे झुक कर रात की रानी को दे रहे संदेश
मैं भी चाहता हूं, गाऊं गीत संदेशों वाला --
लेकिन मेरे वतन में तो जख्मी हैं सभी सन्देश
और गीत नहीं, रोती चूड़ियों की पुकार

हर जवानी हर इश्क के साथ ही जन्म लेती लगे --
रातों का निखार..... पूर्वी हवाएं.... चुंबनों की महक --
आह! लेकिन दिल ही तो है, न भूल सके
रक्तिम उषा भरी दक्षिण की गुमनाम लड़की को
जिसके खिले प्रेम को डसते गुजर गये
शासक के जहरीले, लोभ में रिसते होंठ
और जिसकी भरपूर जवानी को बस
जंगलों की छाया है और सहारा है बंदूक का ही आज --
चांदनी एक कोमल नशा बन कर रक्त में बस रही है
मैं तो चाहता हूं तुम्हारे लिए प्यार का गीत गाना --
लेकिन हर प्यार ही पीड़ा बना है आज
और हर गीत के दिल को पहले आजमाता है अत्याचार
धरती के जन्मे हुओं ने अभी जताना है, हक प्यार करने का --
मकरोनी साँस........ तेलंगाना........ हिकमत.......
हृदय की हर कोमल कामना को
प्यार से पहले अभी फटना है बारूद की तरह
बंदी घरों, कत्लगाहों को इस धरती से मिटाने के लिए
और प्यार के गीतों को भी
संग्राम के रास्तों पर छाया करनी है अभी कुछ देर और
मैं प्यार करता हूं, मेरे लंबे इंतजार से पूछ लो
रात रानी की उदास महक से, अपने दिल से पूछ लो
लेकिन हुस्न के हमकदम होना ही काफी नहीं आज इश्क के लिए
हमारे इश्क को आज ज़िन्दगी के हमकदम होना है।

अनुवाद : **चमनलाल**

कम्प्यूटर एवं पूंजीवाद
प्रौद्योगिकी का त्रासद दुरुपयोग

● निकोलस बरान

टेलीफोन, टेलीविजन एवं मोटर वाहन के साथ ही कम्प्यूटर भी बीसवीं सदी की एक महती तकनीकी उपलब्धि है। 1980 के दशक की साधारण शुरुआत के बाद से पी.सी. (पर्सनल कम्प्यूटर) दफ्तरों के जरूरी उपकरण बन गये हैं। लेकिन कम्प्यूटर सामाजिक एवं शैक्षणिक विषमता में और वृद्धि के औजार भी हैं। जिससे सामाजिक अकेलापन-अलगाव बढ़ता ही जाता है।

कम्प्यूटर से सामाजिक एवं शैक्षणिक विषमता कैसे बढ़ सकती है? स्पष्ट है अभी भी अवाम के बड़े हिस्से को कम्प्यूटर सहज सुलभ नहीं है। एक सुसज्जित कम्प्यूटर प्रणाली की कीमत लगभग 2000 डालर है। (अभी भारत में यह 20-25 हजार रुपए है -सं.) न तो हमारे साधन विहीन विद्यालय न ही उजरती कामगार एक कम्प्यूटर खरीदने की क्षमता रखते हैं।

पी.सी. के अस्तित्व में आए हुए 15 वर्षों से भी ज्यादा हो चुकने के बावजूद पब्लिक स्कूलों में कम्प्यूटर शिक्षा लगभग नहीं के बराबर है। जैसे कैलिफोर्निया पब्लिक स्कूलों में प्रति कम्प्यूटर लगभग 24 विद्यार्थी आते हैं जोकि किसी सार्थक कम्प्यूटर प्रशिक्षण के लिए बहुत ही ज्यादा है। ऊपर से प्रायः स्कूल शिक्षक कम्प्यूटर शिक्षण-प्रशिक्षण के मामले में लगभग कोरे हैं। अतः स्कूल में उपलब्ध कम्प्यूटर के समय का उपयोग ज्यादातर वे ही विद्यार्थी कर पाते हैं जिन्हें स्कूल से परे कहीं कम्प्यूटर पर कार्य करने के सुअवसर हैं या जिनके घरों में कम्प्यूटर है।

फलतः आज कम्प्यूटर लगभग 100 साल पुरानी औपचारिक शिक्षा की तरह समाज के सम्पन्न एवं जागरूक तबके का विशेषाधिकार बन गया है।

कम्प्यूटर प्रशिक्षण से कम्प्यूटर संचालन के अतिरिक्त अन्य लाभ भी हैं। आज 'सी डी रॉम' में संग्रहीत चलती-फिरती एनसाइक्लोपीडिया तथा विषय विशेष के प्रशिक्षण के साफ्टवेयर जैसे सीखने-समझने के खजाने कम्प्यूटर द्वारा ही खुलते हैं। लेकिन ये साफ्टवेयर सस्ते नहीं है और बच्चों को मनोरंजक ढंग से शिक्षा देने लायक एक पीसी लगाने में आराम से 50-60 हजार रुपए लग सकते हैं।

अब आप कम्प्यूटर द्वारा बच्चों को शिक्षा देने के समर्थक हो या न हों किन्तु तय है कि जिन बच्चों के पास घर पर शिक्षाप्रद साफ्टवेयर से लैस पीसी है वह स्कूल में औरों के मुकाबले फायदे में रहेगा। ऐसा इसलिए नहीं है कि कम्प्यूटर शिक्षा के बेहतर साधन हैं, बल्कि इसलिए कि बहुत कम बच्चे किताबें पढ़ते हैं। एक बच्चा जिस समय टीवी देख रहा है, अगर उसी समय दूसरा बच्चा अपने कम्प्यूटर पर स्कूल में पढ़ाया जाने वाले भूगोल से सम्बन्धित गेम खेल रहा है तो जाहिर है पाठ किसे जल्दी समझ में आयेगा। लेकिन ये सभी साफ्टवेयर इतने मंहगे हैं कि मध्यवर्ग के भी बहुसंख्यक नौनिहाल इससे वंचित ही रहेंगे।

दुखदाई तथ्य यह है कि इस दशा के लिए जिम्मेवार कम्प्यूटर उद्योग की बढ़ती लाभ-लोलुपता है। अन्यथा ऐसी तकनीक उपलब्ध है कि गुजरी पीढ़ी के पुर्जो से सस्ते कम्प्यूटर बनाये जा सकें। पीसी इस्तेमाल करने वालों में ज्यादातर उन्हें केवल शब्द संसाधन (Word processing) एवं साधारण डाटाबेस (Data base) जैसे प्राथमिक कार्यों में प्रयोग करते हैं। पीसी की ज्यादातर क्षमता अनप्रयुक्त ही रहती है। लगभग दस साल पुराने पीसी भी उक्त कार्यों के लिए सक्षम हैं। लेकिन कम्प्यूटर उत्पादक साधारण कार्यों के लिए भी 'फन्ने खां' कम्प्यूटर लाकर मुनाफा बढ़ाने के फेर में लगे रहते हैं। उत्पादक रोज नये-नये व ज्यादा क्षमता वाले कम्प्यूटर बाजार में लाकर तथा अपने अथक विपणन द्वारा उपभोक्ता को यह समझाकर कि 'उसके कम्प्यूटर पुराने एवं बेकार हो गये हैं' अपने लिए मांग बनाए रखते हैं। ठीक उसी तरह साफ्टवेयर उद्योग अपनी धुंआधार विज्ञापन -विपणन रणनीति के द्वारा एवं पिछले संस्करणों को रद्दी घोषित कर उपभोक्ता पर गूढ़ एवं कीमती उत्पाद थोपते रहते हैं जिनके ज्यादातर 'फीचर' उपभोक्ता कभी काम में नहीं लाता।

रद्दी घोषित पुराने कम्प्यूटरों के अन्यत्र उपयोग की पूरी सम्भावना होती है, इसे देखते हुए सीधी बात लगती है कि इन्हें शिक्षण संस्थाओं को में दे दिया जाना चाहिए। लेकिन इस विचार में खामी है। पहले तो ज्यादातर दान उन्हीं संस्थाओं को मिलेंगे जो सम्पन्न तबके से ताल्लुक रखते हैं तथा पहले से ही सामाजिक विषमता का प्रसार करने में अपनी भागीदारी निभा रहे हैं क्योंकि आखिर दानदाता तो सम्पन्न तबके से ही आयेंगे। दूसरे चूंकि पुराने कम्प्यूटर एवं साफ्टवेयर के साथ काम करना अपेक्षाकृत मुश्किल होता है अतः जबतक इस दान के साथ सम्यक प्रशिक्षण भी न दिया जाये ज्यादातर वे अनप्रयुक्त ही रहेंगे। ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जहां दान में प्राप्त उपकरण इसलिए धूल खा रहे हैं कि इनका इस्तेमाल करना नहीं आता।

इसका सर्वश्रेष्ठ समाधान है कि घरों एवं स्कूलों के लिए नये साफ्टवेयर और सस्ते कम्प्यूटर विकसित किये जायें। यह ऐसी अभिकल्पना है जिसमें साफ्टवेयर क्षेत्र की दशक की उपलब्धियों को पिछली पीढ़ी के सस्ते 'माइक्रोप्रोसेसर' पर समेकित कर सकें। नई पीढ़ी के विशाल संग्रहण क्षमतायुक्त एवं 'हार्ड डिस्क' से युक्त कम्प्यूटर यहां उपयोगी नहीं हो सकते; वे अपने गूढ़ विशाल एवं ज्यादातर अंशों में अनुपयोगी साफ्टवेयर के साथ अभी भी अत्यन्त मंहगे हैं। इसके बावजूद कम्प्यूटर उद्योग सस्ते एवं निम्न आय वर्ग के लिए कम्प्यूटर के निर्माण में कोई रुचि नहीं लेगा क्योंकि इसके पीछे महान मोटिवेटर 'मनी' (मुनाफा) तो है ही नहीं।

पीछे कही गई बातों का मतलब यह नहीं कि कामकाजी लोगों की पहुंच कम्प्यूटर तक नहीं है। बल्कि सच उलटा है। ज्यादातर कर्मचारियों ने कम्प्यूटर पर कोई शैक्षणिक या सृजनात्मक कार्य कभी किया ही नहीं है। अतः उनका कम्प्यूटर पर काम एसेम्बली लाइन के नीरस एवं उबाऊ काम से किसी तरह बेहतर नहीं है। आफिस में सेक्रेट्री एवं टेलीमार्केटिंग कर्मचारी सप्ताह में 40 घण्टे तक कम्प्यूटर स्क्रीन के सामने बिताते हैं। नतीजतन उन्हें कार्पेल टनेल सिंड्रोम (Carpal tunnel syndrome) दृष्टि का धुंधला पड़ना, अनिद्रा तथा निरन्तर सरदर्द जैसी समस्याओं से जूझना पड़ता है। अभी इस क्षेत्र में काम करने की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ है।

दूरसंचार के क्षेत्र में हुई प्रगति ने श्रम शोषण के वाहक के तौर पर कम्प्यूटर की क्षमता को और भी बढ़ा दिया है। कर्मचारी द्वारा अपने पी सी पर दफ्तर का काम कर सकने की सम्भावना पर ही

नियोक्ता अंशकालिक नियुक्तियों के लिए लार टपका रहे हैं। तब कर्मचारी 19 वीं सदी के कुटीर उद्योगों के श्रमिक जैसे हो जायेंगे। नतीजा चिकित्सा सुविधा, सवैतनिक अवकाश, काम करने का सुनिश्चित स्थान सबकी समाप्ति। जैसे टेली मार्केटिंग कम्पनियों में कर्मचारी न्यूनतम मज़दूरी पर टेलीफोन करते रहते हैं। वास्तव में कर्मचारियों को कम्प्यूटर दिये ही जाते हैं विकास की सम्भावना से शून्य एकरस एवं उबाऊ कामों के लिये ताकि उनमें कोई समझदारी न पनप सके।

चन्द लोगों के लिए सूचना राजमार्ग (Information Highway)

अगर कम्प्यूटर से ही इतनी आर्थिक व शैक्षिक विषमता पनप रही है तो हमारे नये सूचना राजमार्ग इस विषमता को और बढ़ायेंगे ही। इस राजमार्ग से जुड़ने के लिए ही पीसी जरूरी है। दूसरे यह सूचना राजमार्ग भारी पूंजीनिवेश वाला एक वाणिज्यिक उद्यम है। अतः कम्प्यूटर एवं संचार उद्योग द्वारा झोंकी जा रही सारी पूंजी (मुनाफे के साथ) अन्ततः उपभोक्ता से ही वसूल होगी। प्रतिमाह 30 डालर या इससे अधिक का शुल्क समाज के अधिसंख्य को 'इण्टरनेट' तक पहुंचने से रोक देगा।

दूरसंचार कम्पनियों का इरादा पूरे अमेरिका में 'फाइबर आप्टिकल केबुल' बिछाने का है। इसके द्वारा घरों को लगातार आडियो तथा विडियो संकेत भेजे जा सकेंगे ताकि दूरसंचार एवं मनोरंजन कम्पनियां मिलकर घरेलू मनोरंजन तन्त्र बना सकें। पूरे अमेरिका में फाइबर आप्टिकल केबुल बिछाने का खर्च लगभग 200 से 400 बिलियन डालर है। उपभोक्ता को न केवल यह कीमत चुकानी होगी वरन इसके साथ अवश्यम्भावी रूप से जुड़े व्यापार के बैठने एवं बेरोजगारी के खतरे भी उठाने होंगे। यह बेरोजगारी आटोमेशन से फैलने वाली बेरोजगारी के अलावा होगी।

भविष्य के सूचना राजमार्ग आज के इण्टरनेट सरीखे नहीं होंगे। इण्टरनेट के लिए धन मुख्यतया सरकार एवं शिक्षण संस्थाओं ने जुटाया है। अब इण्टरनेट भी निजी उद्यम बनने की प्रक्रिया में है। तब छात्रों एवं कर्मचारियों को उपलब्ध मुफ्त सेवा, बजट कटौती के द्वारा बन्द कर दी जायेगी। सामान्य नागरिक अभी भी माहवार (प्रायः घण्टावार) शुल्क देता है।

पीसी की तरह इण्टरनेट भी अत्यन्त उपयोगी हो सकता है। यह 'ई-मेल' के जरिये पूरी दुनिया के लोगों के बीच संवाद बना सकता है। 'इण्टरनेट' सूचना के जितने प्रचुर साधन जुटाता है उतना अन्यत्र कहीं भी संभव नहीं है। कहीं भी किसी भी सोच का व्यक्ति अपनी सुविधा के लिए इन्टरनेट का प्रयोग कर सकता है। मैक्सिको के चियापास विद्रोही इन्टरनेट पर एक विशेष विषयवस्तु (न्यूज ग्रुप) में अपनी सूचनाएं प्रेषित करते थे। अमेरिकी छात्र इण्टरनेट द्वारा रूसी नौजवानों से पत्र मित्रता कर सके हैं। पर इण्टरनेट पर अपसूचना (misinformation and garbage) की भी भरमार है। 'घृणा समूह', अश्लील चित्र समेत लगभग सभी पूंजीवादी विकृतियां इण्टरनेट पर मौजूद हैं। इण्टरनेट पर बेवकूफियां करने में छात्रों-कर्मियों के बर्बाद हुए उत्पादक समय का विश्लेषण किया जाये तो आश्चर्यजनक तथ्य सामने आएंगे। मैं ऐसे लोगों को जानता हूं जो अपने कार्यदिवस का आधा समय इण्टरनेट पर उलझे रहते हैं।

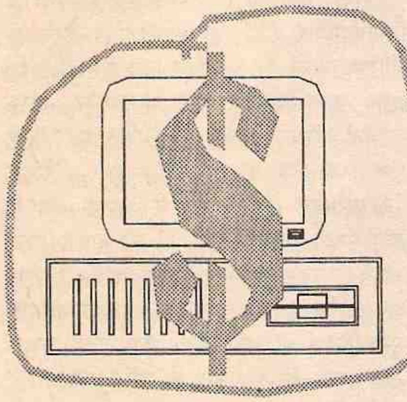

किसी भी सूरत में इण्टरनेट का लोकतान्त्रिक समतामूलक चरित्र रहने वाला नहीं है। जैसे ही यह वाणिज्यिक उद्यम बना तथा इसके बड़े हिस्से पर दूरसंचार कम्पनियों का कब्जा हुआ यह समृद्धशालियों का कीमती खिलौना बनकर रह जायेगा।

कम्प्यूटर एवं सामाजिक बिखराव

कम्प्यूटर आर्थिक एवं शैक्षिक विषमता के साथ ही सामाजिक अलगाव भी बढ़ाते हैं। उपनगरीय फैलाव से टूटते कुटुम्ब वैभवशाली बाजार एवं अगणित मेधाशून्य मनोरंजन के साधनों आदि से ही समाज में अजनबीपन भर गया है। पीसी और खासतौर पर सूचना महामार्ग इस अजनबीपन को और बढ़ा देते है।

ऐसे बच्चों के बारे सोचें जिनका साहचर्य शुरुआती उम्र से ही बच्चों के बजाए कम्प्यूटर के साथ है। भले ही ये बच्चे ढेर सारी बातें सीख रहे होते हैं, पर बढ़ती उमर के लिए सबसे महत्वपूर्ण चीज नहीं सीख पाते -- दूसरे लोगों के साथ कैसे व्यवहार करना है, कैसे रहना है। अब तो बन्द घरों में कम्प्यूटर स्क्रीन से चिपके बच्चे एक आम बात है। इसके पीछे अभिभावकों की मंशा प्रतियोगितात्मक लाभ के साथ ही साथ उन्हें अमेरिकी सड़कों की हिंसा से महफूज रखने की भी होती है, ये 'कम्प्यूटर युग' के बच्चे अपने कम्प्यूटर के तो उस्ताद होते हैं किन्तु इन्हें वार्तालाप करना या रोजमर्रा की सामाजिक परिस्थितियों में प्रतिक्रिया करना नहीं आता। यह 'कम्प्यूटर साक्षरता' का खोटा पक्ष है।

यही बात सूचना राजमार्गों के लिए भी सच है। 'आन लाईन' (यानी कम्प्यूटर नेटवर्क के जरिए) संवादरत व्यक्ति गुमनाम होता है अतः आमतौर पर वह जैसी अभिव्यक्ति करता है वैसी वह व्यक्तिगत तौर पर करने का साहस भी न करे। सूचना तंत्र पर मनुष्य सिर्फ एक 'ई-मेल' पता होता है न कोई व्यक्तित्व, न संवेदना, न नतीजे की कोई चिन्ता। दरअसल इण्टरनेट की दुनिया अलगावग्रस्त लोगों की दुनिया है जो सिर्फ अपने पीसी के जरिए बाहर की दुनिया से जुड़ना चाहते हैं। यह समाज एवं समुदाय के बारे में एक विकृत एवं मानसिक रूप से रुग्ण दृष्टिकोण को जन्म देता है। संक्षेप में हम लोग 'इलेक्ट्रानिक मिसफिट्स' के अलग-थलग एवं दिशाहीन समूहों का सृजन कर रहे हैं।

चुनींदा लोगों के लिए प्रौद्योगिकी, सामाजिक बिखराव, डेस्कटॉप से बंधे कर्मियों का दमन आदि कम्प्यूटर क्रांति के अंधेरे पहलू हैं। मेरा पक्का विश्वास है कि पी सी एक बेहतरीन ईजाद है तथा इसमें विश्व की सामाजिक बेहतरी की अपार संभावनाएं हैं। अस्सी के दशक में जब पीसी क्रांति शुरू हुई तो लगा कि यह एक प्रति सांस्कृतिक प्रक्रिया है। छोटे-छोटे कारखानों एवं कालेज परिसरों में लोग धन को गौण मानकर तकनीकी लगाव से ही पीसी के विकास में लगे थे। लेकिन आज वह बाजार की मुख्यधारा एवं धनाढ्य निगमों के दोहन का औजार है। जबतक प्रौद्योगिकी का नियंत्रण लोलुप निगमों के हाथ में है इसका अंधेरा पक्ष ही प्रभावी होगा तथा इसमें निहित समाज कल्याण की सम्भावनाएं धूमिल होती रहेंगी। अब तक की तमाम तकनीकी उपलब्धियों की तरह कम्प्यूटर द्वारा सकारात्मक परिवर्तन की सम्भावना भी पूंजीवादी एकाधिकार की भेंट चढ़ जाएगी।

('मंथली रिव्यू' से साभार)

लेखक कम्प्यूटर पर केन्द्रित 'बाइट' (Byte) पत्रिका के सलाहकार सम्पादक है

अनुवादः **भूपेश कुमार सिंह**

पुस्तक चर्चा

''जनवाद'' का विभ्रम और सर्वहारा अधिनायकत्व का सवाल

व्यक्तिगत सम्पत्ति, उसके सर्वोच्च रूप पूंजी और उसके तंत्र द्वारा शोषण के सभी रूपों के समूल नाश की दिशा में, मानव-जाति के इतिहास में पहली बार किये गये समाजवादी प्रयोगों के एक दौर के बाद, पूंजीवादी पुनर्स्थापना में विपर्यय एवं तदनुरूप समाजवादी व्यवस्थाओं का मात्र ''समाजवाद'' के लेबल तले संशोधनवादी कुलीनतांत्रिक (सारतः पूंजीवादी) व्यवस्थाओं में रूपान्तरण और अन्ततः इस दशक का आरम्भ होते ही इनका भी पतन विघटन और पुनः खुले पूंजीवाद की वापसी पर जहां एक तरफ अति दक्षिणपंथी विचारक **फ्रांसिस फुकोयामा** अपनी पुस्तक **द एण्ड ऑफ हिस्ट्री एण्ड द लास्ट मैन** में ''मार्क्स की मृत्यु'' ''मार्क्सवाद की मृत्यु'', ''कम्युनिज्म की मृत्यु'' और इसके साथ ही मानव जाति के भविष्य की सारी उम्मीदों या एक शब्द में कहें तो ''इतिहास के अन्त'' की उद्घोषणा कर चुके हैं, जिसे **जॉक देरिदा** ने उचित ही ''विक्षिप्त विजयोल्लास'' की विरोधाभासी संज्ञा दी है क्योंकि यह सब जैसे कि **एजाज अहमद** ने सही कहा है ''इतिहास के एक ऐसे दौर में हो रहा है जब स्वयं पूंजीवाद अवरुद्धता के दलदल में धंसा और पहले के मुकाबले निरन्तर संकटजनक और संकटग्रस्त होने के नाते अपने ही अन्तरविरोधों से विदीर्ण है''[1] वहीं, दूसरी तरफ, अपने आपको प्रतिबद्ध मार्क्सवादी या मार्क्सवाद से सरोकार रखने वाले ऐसे ''मुक्त चिन्तक'' भी पैदा हो गये हैं जो या तो मार्क्सवाद की द्वंद्वात्मक पद्धति को ही विस्थापित करने में लगे हुए हैं, या उसकी बुनियादी प्रस्थापना -- 'सर्वहारा का अधिनायकत्व को ''जनवाद'' या ''जनतंत्र'' की सारतः बुर्जुआ बहानेबाजी की आड़ में खारिजकर, मार्क्सवाद को एक खोखले मुहावरे में तब्दील करने की साजिश रच रहे हैं।

पहले तरह के ''मुक्त चिन्तक'' के सबसे अच्छे उदाहरण स्वयं जॉक देरिदा ही हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा रहा है जो ''मार्क्सवाद की आत्मा'' को ''कभी त्यागने को तैयार नहीं''[2] होने का दावा करने के बावजूद एजाज अहमद के शब्दों में, 'एक मसीहाई स्वर भंगिमा के साथ मार्क्सवाद की हमारी ऐतिहासिक समझ को एक भिन्न तरह की समझ (द्वंद्ववाद को विखण्डनवाद से -- ले.) विस्थापित करने की कोशिश करते हैं।''[3] लेकिन विडम्बना ही है कि इतना स्पष्ट निरूपण करने के बावजूद, अपने आपको प्रतिबद्ध मार्क्सवादी घोषित करने वाले एजाज अहमद यह भी कहते हैं : ''देरिदा निश्चित रूप से दक्षिणपंथ के आदमी नहीं हैं। यदि उनकी राजनीतिक स्थिति की अपनी समझ को मैं तथ्यबद्ध करूं तो मैं रूढ़िवादी दक्षिणपंथ की बजाय स्वच्छन्दतावाद, अराजकतावाद; सुर्रियलिज्म और राजनीतिक उदारतावाद के भी कुछ तत्वों की विरासत के जरिये करूंगा।''[4] कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वच्छन्दतावाद, अराजकतावाद, सुर्रियलिज्म और राजनीतिक उदारतावाद अपने अन्तिम विश्लेषण में सारतः दक्षिणपंथ के ही विचरण हैं। और तब एजाज अहमद की देरिदा के साथ ''एक विखण्डनवादी एकजुटता'' की स्वीकारोक्ति भी सारतः उनके बुर्जुआ उदारवादी विचलन का ही संकेत देती प्रतीत होती है।

बहरहाल, देरिदा और एजाज अहमद के चिन्तनों की छानबीन करना इस आलेख का मुख्य विषय नहीं है - यह सरसरी चर्चा तो बस प्रसंगवश ही कर दी गयी। वस्तुतः इस आलेख का मुख्य विषय उन नव-संशोधनवादियों पर चर्चा करना है जो मार्क्सवाद की जुगाली करते हुए, उसकी बुनियादी प्रस्थापना अर्थात 'सर्वहारा अधिनायकत्व' को 'जनवाद' या जनतंत्र से विस्थापित कर डालने के अपने प्रयासों में, इतिहास में प्रथम बार त्रासदी के तौर पर किये जा चुके और अन्ततः दफनाये जा चुके **लासाल, बाकुनिन, बर्नस्टीन** का दूसरी बार एक नितान्त विद्रूप प्रहसन प्रस्तुत कर रहे हैं। हिन्दी आलोचना के ''शिखर पुरुष'' कहे जा रहे **राम विलास शर्मा** अपनी ''शिखरता'' का परिचय इस फतवेबाजी में दे चुके हैं कि ''डिक्टेटरशिप और जनतंत्र दो चीजें हैं.......डिक्टेटरशिप और जनतंत्र में फर्क ये होता है कि चाहे समाजवादी व्यवस्था हो या पूंजीवादी व्यवस्था हो, जब पार्टी वर्ग के ऊपर हो जाती है,[5] पूंजीवादी पार्टी पूंजीपति वर्ग के ऊपर और मजदूर वर्ग की पार्टी मजदूर वर्ग के ऊपर शासन करने जाती है तो वह डिक्टेटरशिप है।'' यह कहकर रामविलास शर्मा नवसंशोधनवाद के दो नुक्ते पेश करते हैं: पहला, किसी भी प्रकार के अधिनायकत्व को खारिज करना जिसमें निश्चय ही, सर्वहारा अधिनायकत्व के रूप में मार्क्सवाद की मूल प्रस्थापना को खारिज करना, और इस प्रकार, सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ की सभी शिक्षाओं को ही खारिज करना और निष्कर्ष रूप में जनतंत्र को स्वीकार करना है, जो सारतः बुर्जुआ जनवाद की ही पैरोकारी है। वस्तुतः यह राज्यसत्ता के वर्ग चरित्र के बारे में मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ द्वारा किये गये सभी विश्लेषणों और निरूपणों से ही इंकार करना है। और दूसरा नुक्ता, यह कि वह पार्टी और वर्ग के आपसी सम्बन्ध पर अपनी टिप्पणी के बहाने अक्तूबर 1917 की सोवियत समाजवादी क्रान्ति से लेकर सन् 1966-76 तक की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की समस्त क्रान्तिकारी विरासत में सर्वहारा पार्टी द्वारा निभायी गयी भूमिका को ही रद्द करते प्रतीत होते हैं। दरअसल, इसी आशय की टिप्पणी तो वर्षों पहले नवसंशोधनवादी, भाकपा (माले) के सेक्रेटरी **विनोद मिश्र** अपनी पार्टी की चौथी अखिल भारतीय कांग्रेस में प्रस्तुत ''सतरंगा समाजवाद'' की अपनी राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट में कर चुके हैं : ''मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और स्तालिन की वैज्ञानिक रचनाएं हमारे कर्मों की मार्गदर्शक हैं, लेकिन वे किसी भी तरह से उन समस्याओं के बने-बनाये समाधान नहीं पेश कर सकतीं जिनकी हमें समाजवाद की लक्ष्य

त्रात्स्कीवादियों, मेन्शेविकों, काउत्स्कीवादियों और बुर्जुआ जनवादियों की आम तौर पर मचायी जाने वाली चिल्ल-पों नहीं, बल्कि माओ त्से-तुङ की निम्नलिखित उक्ति ही सही दिशा निर्देशन कर सकती है : **''उस समय स्तालिन के पास जनसमुदायों पर भरोसा करने के अलावा और कोई चारा न था; इसलिए उन्होंने पार्टी और जनसमुदायों की सर्वतोमुखी लामबन्दी का आह्वान किया।** (माओ यहां 1920 के दशक के अन्त से 30 के दशक के आरम्भ क की अवधि का हवाला दे रहे हैं)। **इसके बाद, जब उन लोगों ने इस तरीके से कुछ उपलब्धियां हासिल कर ली,तब वे जनसमुदायों पर कम भरोसा करते गये''**[13] (*माओ : ए क्रिटीक ऑफ सोवियत इकनॉमिक्स, न्यूयार्क, मंथली रिव्यू प्रेस, 1977, पृ. 119*)। (जोर हमारा)।

''लेकिन यह बात जरूर दिमाग में रखनी होगी, जैसा कि माओ ने लगातार इस बात को दिमाग में बनाये रखा, कि **मार्क्सवादियों और संशोधनवादियों के बीच एक बहुत बड़ा अन्तर यह होता है कि मार्क्सवादी जनसमुदायों पर कम भरोसा करने की गलती करते है -- और यहां तक कि गम्भीर गलती कर बैठते है -- जबकि संशोधनवादियों का शासन तो जनसमुदायों के शोषण और उत्पीड़न पर ही आधारित होता है।''**[14] (जोर हमारा)

और इतना ही नहीं, जैसा कि बॉब अवाकिएन आगे कहते हैं, ''जब इस दलील को चीन पर लागू किया जाता है तब तो यह और भी खुले रूप में हास्यास्पद बन जाती है। क्या इस सी आर सी दस्तावेज के लेखक उन प्रचार रूपान्तरणों को 'भूल गये हैं जो चीनी समाज के सभी स्तरों पर किये गये थे, जिनके तहत सबसे पहले सत्ता का राष्ट्रव्यापी अधिग्रहण किया गया था। तथा जिन्हें सांस्कृतिक क्रान्ति के द्वारा और मुकम्मल बनाया गया था। प्रकटतः **वे 'भूल गये है' कि कैसे संशोधनवादियों ने, 1976 में माओ की मृत्यु के बाद सत्ता पर कब्जा करके सिलसिलेवार हमला करते हुए सब कुछ उलट दिया, तथा उन सारी चीजों की विध्वस्त कर दियाजो 'समाजवाद की नयी चीजें' थी -- मसलन, क्रान्तिकारी कमेटियां जो बुनियादी स्तरों से ऊपर तक जनसमुदायों और नेताओं को सरकार और प्रशासन के वास्तविक रूपों में संयुक्त करती थीं; 1 में 3 वाले विविध संयोजन जो जनसमुदायों काडरों और विशेषज्ञों आदि को समाज के सभी स्तरों पर संयुक्त करते थे; एक सरकारी नीति के तौर पर मजदूरों की प्रबन्धन में भागीदारी तथा प्रबन्धकों और साथ ही साथ उच्च अधिकारियों की उत्पादक श्रम में भागीदारी; 7 मई काडर स्कूल, जहां पार्टी और राज्य के काडर देहात में जाकर उत्पादक श्रम में हिस्सेदारी करते थे और साथ ही साथ अध्ययन तथा विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष में भाग लेते थे; 'खुला द्वार' शिक्षा और विज्ञान, जिसके तहत जनसमुदायों को लामबन्द और उन पर भरोसा किया जाता था तथा विशेषज्ञों को जनसमुदायों के साथ और व्यावहारिक अनुभव को सैद्धान्तिक अनुभव के साथ संयुक्त किया जाता था; चिकित्सा सेवा जनसमुदायों की ओर निर्देशित थी, तथा सिर्फ पेशेवर चिकित्सकों पर ही भरोसा न करके, समूचे देहात में 'नंगे पांव वाले डॉक्टर' तैनात थे, आदि आदि।''**[15] (जोर हमारा)।

''संशोधनवादियों ने बड़े निर्णायक ढंग से एक काम यह भी किया है कि जो जनमुक्ति सेना अपने सैनिकों की सचेत गतिमान भूमिका और व्यापक जनसमुदायों के समर्थन पर भरोसा करती थी, उसके क्रान्तिकारी चरित्र को नष्ट करके आमलचूल परिवर्तन कर डाला है। इसके स्थान पर संशोधनवादियों ने 'पेशेवर' बुर्जुआ सशस्त्र सेना खड़ी कर दी है। यह वही ''नयी'' जनमुक्ति सेना है जिसने 1989 का तिएन आनमेन चौक के नरसंहार को अंजाम दिया। इसी के साथ-साथ संशोधनवादियों ने क्रान्तिकारी नेतृत्व के अन्तर्गत जारी उन पूर्ववर्ती प्रयासों को उलट दिया है जिनका उद्देश्य एक ऐसी जनसेना (मिलीशिया) तैयार करना था जो स्वयं में शस्त्रसज्जित व्यापक जनसमुदायों की एक खास अभिव्यक्ति होती और जो सर्वहारा लाइन द्वारा निर्देशित होती।''[16]

''क्या इस सी आर सी दस्तावेज के लेखक सचमुच यह आशा करते हैं कि कोई भी व्यक्ति जो इन सारी बातों से परिचित है, यह विश्वशास करेगा कि इनसे समाज के सारभूत ढांचों में कोई वास्तविक अन्तर नहीं पैदा होता है, या यह कि जनसमुदाय -- खासतौर से मजदूरों और किसानों के समुदाय -- इन अन्तरों से अनभिज्ञ है या इन्हें महत्वहीन समझते हैं? जब, समाजवादी चीन में इन सारभूत ढांचों के अन्तर्गत ही प्रभुत्वमान सर्वहारा विचारधारा के अनुरूप शंघाई के गोदी-मजदूरों ने यह नारा बुलन्द किया कि ''गोदी के मालिक बनो, खदानों के गुलाम नहीं'', जब एक उद्यम के मजदूरों ने मार्च करते हुए प्रबन्ध कार्यालय में प्रवेश करके, प्रबन्ध अधिकारियों से यह सवाल किया कि, ''तुम्हारे हथौड़े कहां है?'' तब क्या यह आज के चीन की स्थिति से एक आमूलचूल अन्तर नहीं था, और क्या मजदूरों के समुदाय इस अन्तर को नहीं जानते? जब देहात में जनता के कम्यून तोड़ डाले गये और धनी किसानों की खेती को प्रोत्साहन दिया गया, जब ''जनता की सेवा करो'' के स्थान पर ''धनी होना गौरवपूर्ण है'' को एक मार्गदर्शक सिद्धान्त के तौर पर ला दिया गया -- तब क्या ये सब चीजें एक प्रत्यावर्तन नहीं प्रदर्शित करतीं जिसे मेहनतकश जनसमुदाय जाने बिना नहीं रह सकते? एक बार फिर जब यह ग्री आर सी दस्तावेज 'जनसमुदाय' शब्द का प्रयोग करता है तो प्रकटतः इसके दिमाग में सबसे पिछड़े तथा सर्वोपरि रूप से बुद्धिजीवियों के बीच के एवं वे अन्य विशेषाधिकार प्राप्त संस्तर ही होते हैं जो 'क्लासिकीय बुर्जुआ जनवादी विचारों और सामान्यतः बुर्जुआ विचारधारा से सर्वाधिक प्रभावित होते हैं।''[17]

●

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, सी आर सी दस्तावेज सिर्फ 1871 के पेरिस कम्यून के अति संक्षिप्त और सीमित अनुभव को ही सही, तथा उसके बाद के ''सर्वहारा अधिनायकत्व के सम्पूर्ण अनुभव'' को गलत और उसे सिर्फ एक निषेधात्मक उदाहरण द्वारा सबक देने वाली शिक्षा सामग्री के रूप में इस्तेमाल किये जाने लायक मानता है। अतः आइए देखें कि यह दस्तावेज पेरिस कम्यून के अनुभव को किस रूप में लेता है।

सी आर सी दस्तावेज, जो सर्वहारा राज्य के एकमात्र वैध प्रयोग के रूप में सिर्फ 1871 की पेरिस कम्यून को ही एक अनुकरणीय मॉडल के रूप में स्वीकार करता है, अपनी बात को मार्क्स की महान कृति फ्रांस में गृहयुद्ध में पेरिस कम्यून के बारे में किये गये सार-संकलन पर आधारित करता है, और, खासतौर से, संगठित सेना की समाप्ति और सशस्त्र जनता (मिलीशिया) द्वारा उसका स्थान लेने तथा कम्यून के सारे पदाधिकारियों का सार्विक मताधिकार द्वारा निर्वाचन एवं उसी प्रकार उनके वापस बुलाये जाने की व्यवस्था को एक अनुकरणीय सर्वहारा राज्य के मॉडल की अनिवार्य शिक्षा के रूप में प्रस्तुत करता है। इस बॉब अवाकिएन जो महत्वपूर्ण और सर्वथा उचित टिप्पणी की है, उसे यहां कुछ अधिक विस्तार के साथ उद्धृत करना आवश्यक है :

''यहां पहले थोड़ी ''ऐतिहासिक परिदृष्टि'' आवश्यक है। हमें एक बार फिर इस तथ्य की ओर ध्यान खींचना पड़ रहा है कि सोवियत संघ के (तथा उसके साथ-साथ आमतौर पर समाजवाद के) अनुभव में, यह बात साबित हो चुकी है कि पेरिस कम्यून में अख्तियार की गयी नीतियों को पूरी तरह और काफी हद तक सोवियत गणराज्य

की एकदम आरम्भिक अवस्था में उन नीतियों को – लागू कर पाना सम्भव नहीं था जिन्हें मार्क्स ने निर्णायक रूप से महत्वपूर्ण बताया था।

"यदि इस प्रश्न के कुंजीभूत पहलू पर गौर करें तो एक संस्था के रूप में संगठित सेना को समाप्त करना और स्वयं शस्त्रसज्जित जनता को उसका स्थानापन्न बनाना सम्भव नहीं हो सका है। इसका काफी हद तक कारण...यह तथ्य है कि समाजवाद की दिशा में ले जाने वाली क्रान्तियां ऐसे औद्योगिक रूप से विकसित पूंजीवादी देशों में नहीं हुई हैं जहां सर्वहारा का बहुलांश हो (या कम से कम सबसे बड़ा वर्ग हो), जैसा कि मार्क्स और एंगेल्स ने पूर्वानुमान किया था, बल्कि तकनोलॉजिकीय रूप से पिछड़े देशों में हुई जहां भारी किसान आबादी है, और सर्वहारा वर्ग एक छोटा अल्पसंख्यक वर्ग है, ये क्रान्तियां ढेर सारे देशों में एक ही साथ नहीं हुई हैं; बल्कि कमोबेश एक समय में एक ही देश में हुई हैं, (यहां हम पूर्वी यूरोपीय देशों में द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामप्रदत्त अनुभवों को शामिल नहीं कर रहे हैं, जहां सामाजिक सम्बन्धों के कई पहलुओं में कुछ रूपान्तरण तो हुआ था, लेकिन समाज का वास्तविक समाजवादी रूपान्तरण कभी हुआ ही नहीं); और समाजवादी राज्य एक ऐसे विश्व में अस्तित्व में रहे जो अभी भी साम्राज्यवाद के प्रभुत्व में था। क्यों समाजवादी देशों के लिए यह सम्भव नहीं हो पाया – और जैसा कि निकट भविष्य में भी हो पाना सम्भव नहीं लगता कि संगठित सेना समाप्त कर दिया जाये और समस्त जनसमुदाय पूरी तरह उसका स्थान ले ले – इस प्रश्न के उत्तर के सारांश को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है : ऐसा करने के लिए उत्पादन सम्बन्धों (और सामान्यतः सामाजिक सम्बन्धों) के रूपान्तरण में प्रगति के साथ-साथ उत्पादक शक्तियों के विकास का एक ऐसे बिन्दु तक पहुंच जाना आवश्यक है जहां सम्पूर्ण जनसमुदाय, न कि उसका महज एक छोटा भाग, सैन्य गतिविधियों में एक ऐसे स्तर पर संगठित और प्रशिक्षित किये जा सकेंगे जो वास्तव में सिर्फ 'घरेलू' प्रतिक्रान्तिकारियों से ही नहीं,, बल्कि और भी आगे बढ़कर शेष साम्राज्यवादी शक्तियों तथा अन्य प्रतिक्रियावादी राज्यों की सशस्त्र सेनाओं से भी निपटने में सक्षम होगा। जब यह स्थिति आ जायेगी तब वस्तुतः ऐसी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी कि जनसमुदायों का एक तबका – सशस्त्र लोगों का एक विशिष्ट निकाय -- सैन्य गतिविधियों में विशेषतया प्राप्त करे और अपनी मुख्य सक्रियता उन्हीं गतिविधियों के प्रति समप्रित किये रहेः तभी संगठित सेना को समाप्त कर शस्त्रसज्जित जनसमुदायों को उसका स्थानापन्न बनाया जा सकता है। लेकिन एक बार फिर कहना पड़ रहा है कि अब तक कोई भी ऐसा समाजवादी राज्य अस्तित्व में नहीं आ सका है जो इस स्थिति में हो, या यहां तक कि इसके निकट की भी किसी स्थिति में पहुंच पाया हो।

"पेरिस कम्यून पर लिखते हुए **मार्क्स** के पास (और अक्टूबर क्रान्ति से पूर्व '**राज्य और क्रान्ति**' लिखते समय **लेनिन** के पास) सार-संकलन के लिए ऐसा कोई अनुभव न था। यद्यपि सर्वहारा अधिनायकत्व से सम्बन्धित इन कृतियों की बुनियादी दिशा की अवश्य ही दृढ़तापूर्वक हिफाजत की जानी चाहिए फिर भी एक उल्लेखनीय सीमा तक उसके विश्लेषण के कई खास पहलू समाज और दुनिया के उस कम्युनिस्ट रूपान्तरण को आगे बढ़ाने के संघर्ष की तीव्रता, जटिलता और अवधि की एक अपर्याप्त समझदारी को ही प्रतिबिम्बित करते हैं, जो एक या कई देशों में सर्वहारा अधिनायकत्व के स्थापित हो जाने के बाद अस्तित्व में आने वाला था। आखिरकार पेरिस कम्यून केवल दो ही माह तक और वह भी केवल फ्रांस के कुछ ही भागों में, हालांकि बहुत ही महत्वपूर्ण भागों में, चल पाया, न कि पूरे देश के पैमाने पर।"[18]

"पेरिस कम्यून की ऐतिहासिक सीमाओं पर किसी हद तक उत्तेजक ढंग से रोशनी डालने के लिए" बॉब अवाकिएन ने अपनी एक पुस्तक **डिमाक्रेसी : काण्ट वी डू बेटर दैन दैट?** (बैनर प्रेस, शिकागो, 1986) में, 1871 के पेरिस कम्यून से सम्बन्धित मार्क्स के दृष्टिकोण पर **जेम्स मिलर** की निम्नलिखित दलील उद्धृत की है :

"1871 के विद्रोही उल्लेखनीय रूप से 1792, 1830 और 1848 के पेरिसवासी विद्रोहियों के समान थे : इनमें दस्तकार थे, सौदागर थे, शार्गिद थे, स्वतंत्र उत्पादक थे, व्यवसायी थे, तथा बहुत थोड़े ही मजदूर नये फैक्टरी उद्योगों में थे। यद्यपि 1871 के कम्यून के फ्रांस की उस लोकप्रिय राजनीतिक संस्कृति का चरम स्फोट माना जा सकता है जिसे रूसो ने तीन पीढ़ी पहले ही परिभाषित करने में योगदान दिया था, फिर भी, खासतौर से आधुनिक इतिहास लेखन की रोशनी में, इसके अन्दर एक अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा क्रान्ति का पथप्रदर्शक ढूंढ़ पाना काफी कठिन ही है।" (मिलर, रुसो, पृ. 260-61)।

इस पर बॉब अवाएिन ने अपनी उसी पुस्तक में (डेमोक्रेसी) बिल्कुल सही टिप्पणी की है, जो इस प्रकार है : "हालांकि मिलर की टिप्पणियां एकांगी है और अन्तिम वाक्य खास तौर पर गलत है – यह मिलर का बुर्जुआ पूर्वाग्रह है जिसके चलते उनके लिए 1871 के पेरिस कम्यून में 'एक अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा क्रान्ति का पथ प्रदर्शक' ढूंढ़ पाना कठिन है – फिर भी, उनकी टिप्पणियां वैधता से एकदम रहित नहीं है। इनसे निश्चय ही यह तथ्य प्रतिबिम्बित होता है कि इस पेरिस कम्यून में भी पुरानी बुर्जुआ क्रान्ति और नयी सर्वहारा क्रान्ति दोनों ही के तल समाहित थे, और कि यह हूबहू अपने उसी रूप में एक सर्वहारा राज्य (खास तौर से अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा क्रान्ति की आरम्भिक अवस्था और चारों तरफ से शक्तिशाली बुर्जुआ राज्यों द्वारा घिरे सर्वहारा राज्य के) एक पूर्णतः विकसित मॉडल को मात नहीं दे सकता था।"

उपर्युक्त उद्धरणों से बॉब अवाकिएन ने बिल्कुल सही निष्कर्ष निकाला है कि "हम इस भाववादी और आधिभौतिक पहुंच के कायल नहीं हो सकते कि इस बात का आग्रह किया जाये कि यथार्थ को जरूर मार्क्स (और लेनिन खासतौर पर अक्टूबर क्रान्ति से पूर्व) की उन निष्पत्तियों के अनुरूप जबरन ढाल दिया जाना चाहिए जो पेरिस कम्यून के बहुत ही महत्वपूर्ण, परन्तु साथ ही, सीमित अनुभव पर आधारित थीं। अगर हम ऐसा करने चलें, तो हमें इस बात का भी आग्रह करना पड़ सकता है कि सर्वहारा वर्ग तुरन्त ही पूंजीवाद से पूर्णतः विकसित समाजवाद की ओर छलांग लगा दे, और ऐसा करके समाजवादी संक्रमण और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में निहित सारे अन्तरविरोधों को दरकिनार कर दे। हमें जिस बात पर जोर देना चाहिए वह यह है कि जिन राज्यों में ऐसी क्रान्तियां हुई है वहां उनका मार्गदर्शन करने वाली लाइन और व्यवहार का मूल्यांकन यह जानने के लिए करें कि क्या सचमुच वे मार्क्स द्वारा पेरिस कम्यून के सार-संकलन के जरिये प्रवर्तित मूल दिशा के साथ सुसंगति में हैं, क्या उनकी लाइनें, नीतियां, संस्थाएं और विचार, जो उन समाजों का चित्रण करते है, कुल मिलाकर समाज को वर्गों, और उन्हीं के साथ-साथ राज्य (और पार्टी) की समाप्ति की दिशा में रूपान्तरित करते हुए ले गये हैं। इन मानदण्डों के आधार पर, हमें एक बार फिर "परम्परागत मार्क्सवादी-लेनिनवादी (माओवादी) व्याख्या" को दृढ़तापूर्वक दुहराना होगा कि लेनिन और स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ तथा माओ के नेतृत्व में चीन ने पेरिस कम्यून की निरन्तरता प्रदर्शित की।"[19]

इस सन्दर्भ में बॉब अवाकिएन का यह रेखांकन अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि "पूंजीवाद से साम्यवाद में संक्रमण, न सिर्फ मार्क्स और एंगेल्स द्वारा पहले से किये गये पूर्वानुमान से अधिक,

बल्कि स्वयं लेनिन द्वारा अक्टूबर क्रान्ति से पहले और उसके ठीक बाद की अवधि में किये गये पूर्वानुमान से भी अधिक दीर्घकालिक, जटिल और घुमावदार प्रक्रिया सिद्ध हुआ है (यह तो 1920 के दशक के आरम्भ की बात है, जब लेनिन अपने जीवन के चन्द आखिरी वर्षों में ही इस सच्चाई को पहले से अधिक पूर्णता के साथ समझ सके कि सोवियत क्रान्ति को, बहुत सम्भव है, एक लम्बे समय तक अपने यात्रा-पथ पर 'अकेले ही चलना' पड़े)।'' [20]

लेकिन पेरिस कम्यून के अत्यन्त सीमित और संक्षिप्त अनुभव को ही अन्तिम रूप से अनुकरणीय मॉडल मानने और बाद के ''सर्वहारा अधिनायकत्व के सम्पूर्ण अनुभव'' को एकदम खारिज कर देने का सी आर सी दस्तावेज का अनैतिहासिक और गैर द्वंद्वात्मक नजरिया जहां यह ''स्वीकार करने की कृपा करता है कि .... सोवियतों की सत्ता, जो क्रान्ति के फलस्वरूप अस्तित्व में आयी थी, वास्तव में व्यापक जनसंख्या की राजनीतिक इच्छा का प्रतिनिधित्व कर रही थी,'' वहीं, इसके विपरीत, यह अपेक्षाकृत अधिक अधोगामी सामाजिक-जनवादी (सारतः बुर्जुआ) टिप्पणी भी कर देता है -- जो वस्तुतः उसके कम्युनिस्ट विरोधी बुर्जुआ जनवाद के आग्रह का ही प्रतिबिम्बित है -- कि ''लेकिन जो चीज विकसित हो रही थी (वह यह थी कि) यह नयी राजनीतिक व्यवस्था धीरे-धीरे कम्युनिस्ट पार्टी के नियंत्रण में आती जा रही थी''। इसी सिलसिले में वह लेनिन को उद्धृत करते हुए, आगे, कहता है कि ''लेनिन ने कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका को स्पष्ट तौर पर इस प्रकार घोषित किया था : ''सोवियत सत्ता के ढाई वर्षों के बाद हमने कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल में स्पष्ट कहा और हमने दुनिया को बताया कि सर्वहारा अधिनायकत्व कम्युनिस्ट पार्टी के अलावा अन्य किसी माध्यम से लागू नहीं होगा'' (लेनिन, संकलित रचनाएं, खण्ड 32, पृष्ठ 199)। अब चक्र पूरा हो गया। सर्वहारा के अधिनायकत्व को स्थापित करने का व्यावहारिक कार्यक्रम जिसकी शुरूआत इस आकर्षक नारे से हुई थी कि सारी सत्ता सोवियतों को उसका समापन इस वास्तविकता के साथ हुआ कि सर्वहारा का अधिनायकत्व कम्युनिस्ट पार्टी के माध्यम से लागू किया गया, जहां सोवियतें मशीन का महज दन्तचक्र (कॉगव्हील) बनकर रह गयीं। भले ही आउत्स्की द्वारा आलोचना बुर्जुआ संसदवाद के नजरिये से आ रही थी, फिर भी यह तथ्य तो अपनी जगह पर बरकरार ही है कि वर्तमान विश्व स्थिति में, जहां एक गुणात्मक रूप से नयी राजनीतिक व्यवस्था जैसी कि एक सच्चे सर्वहारा अधिनायकत्व में परिकल्पित की गयी थी, एक ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में नहीं उभर पायी है; तब वर्ग नहीं, बल्कि उसकी पार्टी ही वास्तव में शासन करती है''।

''लेकिन'', जैसा कि बॉब अवाकिएन ने बिल्कुल सही सवाल उठाया है, **''कोई भी जो कम्युनिस्ट होने का दावा करता है और सिद्धान्त रूप में सर्वहारा अधिनायकत्व को स्वीकार करता है, उसे यह बताना ही होगा कि जनसमुदाय वस्तुतः कैसे पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका के बिना, अर्थात पार्टी की संस्थाबद्ध नेतृत्वकारी भूमिका के बिना -- सर्वहारा अधिनायकत्व लागू कर सकते हैं, और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना को रोक सकते हैं। अन्यथा, फिर तो वही बात होगी : इस नेतृत्वकारी भूमिका को शब्दों में स्वीकार करना और साथ ही इस बात पर जोर देना कि इसकी एक संस्थाबद्ध नेतृत्वकारी भूमिका नहीं होनी चाहिए, वास्तव में इसी बात पर आ जाना है कि इस नेतृत्वकारी भूमिका को ही एकदम नकार दिया जाये।''**[21] (जोर हमारा)। इसीलिए, लेनिन स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि, जहां, एक तरफ, **''पार्टी, यों कह सकते हैं कि सर्वहारा वर्ग के हरावल को अपने में आत्मसात करती है, और यह हरावल सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व करती है, और यह हरावल सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को लागू करता है''**, वहीं, उसके साथ-साथ दूसरी तरफ वह यह भी स्पष्ट करते हैं कि सरकार के कार्यकलाप **''उन विशिष्ट संस्थाओं के माध्यम से सम्पन्न करने होते हैं जो स्वयं भी एक नये प्रकार की संस्थाएं हैं, जिन्हें सोवियतें नाम दिया गया है''** (*ट्रेड यूनियनें, वर्तमान परिस्थिति और त्रात्स्की की गलतियां*, संकलित रचनाएं, खण्ड 32, पृष्ठ 20)।

'सर्वहारा वर्ग के हरावल को अपने में आत्मसात करने के रूप में पार्टी द्वारा सर्वहारा अधिनायकत्व लागू करने की इतिहासजन्य आवश्यकता और अपरिहार्यता को दो-टूक शब्दों में विवेचित करते हुए लेनिन यह तथ्य उद्घाटित करते हैं कि ''सभी पूंजीवादी देशों में (न कि सिर्फ यहां ही जो सर्वाधिक पिछड़ा देश है) सर्वहारा वर्ग अब भी इतना विभाजित, निम्नस्तरीय और भिन्न-भिन्न अंशों में (साम्राज्यवाद द्वारा कुछ देशों में) इतना भ्रष्ट कर दिया गया है कि समूचे सर्वहारा वर्ग का एक ही संगठन (यहां लेनिन का संकेत खासतौर से ट्रेड यूनियनों की ओर है) सर्वहारा अधिनायकत्व को सीधे तौर पर नहीं लागू कर सकता। इसे सिर्फ एक ऐसे हरावल द्वारा ही लागू कर सकता। इसे सिर्फ एक ऐसे हरावल द्वारा ही लागू किया जा सकता है जिसने इस वर्ग की क्रान्तिकारी ऊर्जा को अपने में आत्मसात कर लिया हो'' (वही पृ. 21)। उसी में, आगे, लेनिन यह कहते हैं कि ''यह सब कुद दन्तचक्रों (कॉगव्हील्स) की एक व्यवस्था की तरह है'' तथा यह तमाम उन ''सम्प्रेषण पट्टों'' के बगैर काम नहीं कर सकती जो हरावल से लेकर अग्रणी वर्ग के समुदाय तक, तथा फिर वहां से लेकर मेहनतकश जनसमुदाय तक लगे होते हैं।''

लेकिन सी आर सी दस्तावेज के लेखकर, जैसा कि बॉब अवाकिएन ने बिल्कुल सही इंगित किया है, ''दन्तचक्र'' (कागव्हील) के लाक्षणिक प्रयोग से इतने बिदक गये हैं कि उनके लिए लेनिन का यह कथन महत्वहीन हो जाता है कि सोवियतें सरकार के कार्यकलाप सम्पन्न करती हैं और कि ये सोवियतें ''विशिष्ट संस्थाएं'' हैं तथा ''एक नये की की हैं'' (नोट : ये वही पुरानी बुर्जुआ समाज की संस्थाएं नहीं है, बल्कि मूलभूत रूप से राज्यसत्ता के नये रूप प्रस्तुत करती हैं और सरकार के कार्यकलाप सम्पन्न करती हैं)। कैसे और किस दृष्टिकोण से यह सम्भव है कि इसके ऐतिहासिक महत्व को अनदेखा कर दिया जाये?''[22]

इस सन्दर्भ में बॉब अवाकिएन ने लेनिन द्वारा, मार्च 1921 में, दसवीं पार्टी कांग्रेस में दिये गये महत्वपूर्ण भाषण का हवाला दिया है। यहां पर इसके कुछ चुनिन्दे हिस्सों को उद्धृत करना आवश्यक है:

''हमारी पार्टी के भीतर कुछ महीनों में निश्चित रूप से एक संघातिपत्यवादी और अराजकतावादी भटकाव प्रकट हुआ है। इस भटकाव की सबसे सैद्धान्तिक रूप से पूर्ण और स्पष्टतः परिभाषित (याः इस भटकाव की अभिव्यक्तियों में से एक सबसे पूर्ण आदि) अभिव्यक्ति तथाकथित वर्कर्स अपोजिशन ग्रुप की थीसिसें और अन्य साहित्यिक उत्पादन हैं। उदाहरण के लिए, इसको पर्याप्त रूप से स्पष्ट करने वाली, इस ग्रुप द्वारा प्रस्तुत, निम्नलिखित थीसिस है : ''राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबन्ध का संगठन औद्योगिक यूनियनों में संगठित एक अखिल रूसी उत्पादनकर्ता कांग्रेस का कार्य है जो इस गणराज्य की सम्पूर्ण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को चलाने के लिए एक केन्द्रीय निकाय का निर्वाचन करेगा।'' इसकी जड़ में जो विचार हैं वे और ऐसे तमाम वक्तव्य सिद्धान्त में पूरी तरह गलत हैं, तथा मार्क्सवाद और कम्युनिज्म से, सभी अर्द्धसर्वहारा क्रान्तियों और इस वर्तमान सर्वहारा क्रान्ति के व्यावहारिक अनुभव से एक पूर्ण विच्छेद प्रदर्शित करते हैं। प्रथमतः

''उत्पादनकर्ता'' की अवधारणा सर्वहाराओं को अर्द्धसर्वहाराओं और छोटे माल उत्पादनकर्ताओं के साथ संयुक्त कर देती है, और इस प्रकार वर्ग संघर्ष की मूलभूत अवधारणा से तथा यह मूलभूत आवश्यकता से हट जाती है कि वर्गों के बीच एक स्पष्ट विभेदीकरण किया जाना चाहिए। दूसरे, गैर पार्टी जनसमुदायों के लिए चेष्टा या उसकी चोंचलेबाजी, जो उपर्युक्त उद्धृत थीसिस में अभिव्यक्त है, मार्क्सवाद से एक वैसा ही पूर्ण बहकाव है। गैर पार्टी सर्वहारा वर्ग के साथ अपने सम्बन्ध में, तथा कामगार जनता के समूचे समुदाय के साथ पहले और पहले और दूसरे कारकों के सम्बन्ध में कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका की यह गलत समझदारी कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका की यह गलत समझदारी कम्युनिज्म से एक पूर्ण सैद्धान्तिक बहकाव तथा संघातिपन्यवाद और अराजकतावाद की ओर भटकाव है, तथा यह भटकाव वर्कर्स अपोजिशन ग्रुप के सारे दृष्टिकोणों में व्याप्त है।''[23] (अंग्रेजी से अनूदित)। कहना न होगा कि उस समय अपने आलोचकों को दिया गया लेनिन का यह जवाब सी आर सी दस्तावेज के लेखकों और आज के अन्य नवसंशोधनवादियों के लिए सर्वथा उपर्युक्त जवाब है।

अब, जहां तक नेताओं को 'बदल सकने' या 'वापस बुला सकने' की पेरिस कम्यून वाली व्यवस्था की बात है -- जिसे मार्क्स ने निर्णायक महत्व के कार्य के रूप में अभिचिन्हित किया था, इस पर बॉब अवाकियन बहुत सही कहा है कि ''सर्वहारा वर्ग के ऐतिहासिक अनुभव ने दिखा दिया है कि इस सिद्धान्त को हूबहू उसी अर्थ में लागू करना सम्भव नहीं हो सका है जिस अर्थ में मार्क्स ने इसकी चर्चा पेरिस कम्यून से नतीजे निकालते समय की थी।''[24] इसे और स्पष्ट करते हुए बाब अवाकिएन ने एक अत्यन्त सटीक उदाहरण प्रस्तुत किया है : ''वास्तव में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य जिनकी संख्या लाखों में थी, जिनमें मजदूरों और किसानों का प्रतिशत बहुत अधिक था, माओ को मतदान के जरिये पद से हटा देने का औपचारिक अधिकार तो रखते ही थे। स्पष्ट कहें तो, उनके पास पार्टी कांग्रेस के लिए प्रतिनिधि चुनने का अधिकार था और ये प्रतिनिधि जो पार्टी की केन्द्रीय कमेटी का चुनाव करते थे, यह औपचारिक अधिकार रखते थे कि माओ को उस केन्द्रीय कमेटी में चुने जाने से वंचित कर देते। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया और क्यों ऐसा नहीं किया''[25] इसका कारण यह था कि ''यदि उन्होंने इस अधिकार का मूर्खतापूर्ण प्रयोग किया होता और उन्हें बाहर कर दिया होता तब उनके सामने यह आंखें खोल देने वाला तथ्य आ खड़ा हुआ होता कि उनके पास माओ का स्थान लेने के लिए और कोई नहीं था।....**माओ को मतदान के जरिये पद से हटा देने का सिर्फ यही मतलब हुआ होता कि कोई उनसे कम योग्य व्यक्ति, या उससे भी बुरी बात यह हुई होती कि सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के बजाय बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई व्यक्ति, वह नेतृत्वकारी भूमिका अदा कर रहा होता। आप इसे नजरअन्दाज नही कर सकते और औपचारिक जनवाद की बाध्यताओं से चिपककर कोई निजात नही पा सकते।**''[26] **अत: ''रूप नही, बल्कि सामाजिक (वर्ग) अन्तर्वस्तु जो अन्तर्निहित भौतिक अन्तरविरोधों के मूल में स्थित होती है, सम्बन्धित विषय का सार होती है।**''[27] (जोर हमारा)

बॉब अवाकियन का यह रेखांकन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है : ''बेशक इसका मतलब यह नहीं है कि जनसमुदायों और नेताओं के बीच का विभाजन रोकते जाने और अन्तत: खत्म कर दिये जाने के बजाय शाश्वत बना दिया जाना चाहिए और यह मतलब तो कतई नहीं है कि जनसमुदायों के बजाय नेताओं को ही समाजवादी समाज के असली स्वामी के रूप में देखा जाना चाहिए। क्रान्तिकारी चीन में नेताओं की आलोचना करने और सर्वोपरि रूप से उन पर निगरानी रखने के लिए जनसमुदायों की भूमिका को भारी महत्व दिया गया था। और इसकी कुल मिलाकर एक नये स्तर पर अभिव्यक्ति सांस्कृतिक क्रान्ति के माध्यम से हुई थी, जो जैसाकि माओ ने जोर देकर कहा था, ''सर्वथा मौलिक रूप से एक नयी चीज थी जो हमारे अंधेरे पक्ष को सर्वतोमुखी रूप से और नीचे से उजागर कर देने हेतु व्यापक जनसमुदायों को जागृत कर देने का एक रूप एक तरीका थी'' (चीन कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांग्रेस की रिपोर्ट, पृष्ठ 27)। फिर भी यह तथ्य अपनी जगह पर है कि समूचे समाजवादी संक्रमण के दौरान सिर्फ नेताओं की जरूरत तथा नेताओं और अनुसरणकर्ताओं के बीच वस्तुगत अन्तरविरोध ही नहीं बरकरार रहेगा, बल्कि इसके शोषण और उत्पीड़न के सम्बन्धों में रूपान्तरित हो जाने की सम्भावना भी बरकरार रहेगी। यह एक ऐसी समस्या है जिसे रूपवादी पहुंच के जरिये हल करना तो दूर, आधारभूत रूप से सम्बोधित भी नहीं किया जा सकता है। इसे तो क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के नेतृत्व में वर्गसंघर्ष शुरू करके और उसे एक कुंजीभूत कड़ी बना करके ही समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई तरीका नहीं। और ठीक यही पहुंच तो माओ के नेतृत्व में अख्तियार की गयी थी।''[28]

सी आर सी दस्तावेज ''पार्टी के अधिनायकत्व'' के अपने आरोपों को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने तथा लेनिन और स्तालिन की छवि को धूमिल करने के अपने कुत्सित प्रयास में दो बातें कहता है। पहली यह कि ''पार्टी और सर्वहारा के अधिनायकत्व के सम्बन्ध में लेनिन द्वारा अपनायी गयी अवस्थिति स्तालिन द्वारा अपनायी और व्यवहार में लागू की गयी अवस्थिति से बहुत भिन्न नहीं है। यह सारत: सही है, लेकिन इस दस्तावेज का उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं बल्कि अपनी कुचेष्टा के तहत, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को पार्टी के अधिनायकत्व में ''चिन्हित'' कर उसे खारिज करना है। दस्तावेज स्तालिन को उद्धृत करते हुए कहता है कि ''स्तालिन दलील देते थे कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व ''सार रूप में'' पार्टी का अधिनायकत्व है।'' बेशक, स्तालिन द्वारा, ''लेनिनवाद से सम्बन्धित सवालों के बारे में'' (भाग 5, लेनिनवाद की समस्यायें) लिखते समय जैसाकि स्वयं बाब अवाकियन ने सही स्वीकार किया है, किया गया यह सूत्रीकरण किंचित दुर्भाग्यपूर्ण ही है कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व ''साररूप में'' पार्टी का अधिनायकत्व है, लेकिन उसी पुस्तक में आगे स्तालिन बार-बार यह समझाते हैं कि कैसे इसका अर्थ कदापि यह नहीं किया जाना चाहिए कि ''सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका (पार्टी के 'अधिनायकत्व'') के बीच समानता का कोई संकेत दिया जा सकता है, कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को पार्टी के ''अधिनायकत्व'' के रूप में चिन्हित किया जा सकता है, कि पार्टी को सर्वहारा वर्ग का स्थानापन्न माना जा सकता है....कि ''सार रूप में कहने का मतलब ''समग्र रूप में'' कहना नहीं है (वही, पृ.185)। लेकिन सी आर सी दस्तावेज अपने बदनीयती भरे पूर्वाग्रह के चलते इन कथनों की कोई चर्चा नहीं करता। इतना ही नहीं, वह स्तालिन के इस दो टूक शब्दों में किये गये कथन पर भी अंधा बन जाता है कि ''जो कोई भी व्यक्ति पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका को सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के रूप में चिन्हित करता है, वह पार्टी को सोवियतों का, अर्थात राज्यसत्ता का स्थानापन्न बना देता है'' (वही पृ. 189)।

कहावत है फरेबी धूल में रस्सी बटते हैं। इसी को चरितार्थ करने की अगली कड़ी के रूप में सी आर सी दस्तावेज बोल्शेविक अवस्थिति और लेनिन के दृष्टिकोण पर रोजा लक्जेम्बर्ग की ''चुभने वाली आलोचना'' प्रस्तुत करता है, जिसे यहां दुहराना अनावश्यक और व्यर्थ है, कारण कि, सी आर सी दस्तावेज, अपने पूर्ववत

बदनियतीभरे पूर्वाग्रह के कारण स्वयं यह स्वीकार करने के बावजूद कि जब लक्ज़ेमबर्ग ने नयी सोवियत सरकार की कुछ आलोचनाएं की तब वह जेल में थीं, और कि "जेल से बाहर आने और रूस की स्थिति के बारे में प्रत्यक्ष सूचना पाने के बाद उन्होंने कुछ आलोचनाएं वापस ले लीं, तथा अन्य पर चुप्पी साध गयीं", पुनः उसी "चुभने वाली आलोचना" की लकीर पीटते रह जाता है।

●

अब आइए, सी आर सी दस्तावेज के एक दूसरे सूत्रीकरण पर गौर करें। दस्तावेज सर्वहारा अधिनायकत्व के "कम्युनिस्ट पार्टी के अधिनायकत्व" में "विकृत" हो जाने की "मूलभूत गलती" को इस प्रकार चिन्हित करता है :

"सोवियत संघ के सामने लेनिन और स्तालिन के नेतृत्व में जो बुनियादी समस्याएं उपस्थित थीं, जैसे एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था का अभाव जिसमें जनता सीधे भागीदारी कर सके और अपनी राजनीतिक इच्छा को दृढ़तापूर्वक व्यक्त कर सके तथा सम्पूर्ण व्यवस्था के केन्द्रीकरण के साथ-साथ नौकरशाही की ओर ले जाने वाला उत्पादन के साधनों का समाजीकरण वे सारी की सारी चीजें चीन में भी अभिव्यक्त हो रही थीं। अतः पूंजीवादी पुनर्स्थापना की वही प्रक्रिया जो सोवियत संघ में पहले ही एक विकसित चरण में पहुंच चुकी थी, चीन में भी शुरू हो चुकी थी।"

"एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था" जिसमें "कम्युनिस्ट पार्टी की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं होनी चाहिए -- वस्तुतः यही इस दस्तावेज का "सर्वहारा जनवाद" है जो प्रसंगवश फिर याद दिला दे, हिन्दी आलोचना के "शिखर पुरुष" रामविलास शर्मा के "जनवाद" से पूरी तरह मेल खाता है क्योंकि उनके अनुसार, जैसा कि पीछे उद्धृत किया जा चुका है : "जब पार्टी वर्ग के अधीन होती है तो वह जनतंत्र होता है" और जब पार्टी वर्ग के ऊपर शासन करने लगती लगती है तो वह डिक्टेटरशिप है"!

बहरहाल, सर्वहारा अधिनायकत्व की 'राजनैतिक व्यवस्था' कैसी होनी चाहिए, इसके लिए सी आर सी दस्तावेज अपने 'आप्त वचन'(!) प्रस्तुत करता है :

"पेरिस कम्यून के राजनीतिक ढांचे में कम्युनिस्ट पार्टी की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं थी", और कि " लेनिन "राज्य और क्रान्ति" में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की सम्पूर्ण योजना की जो व्याख्या दी गयी है उसमें पार्टी की भूमिका के बारे में किसी भी चर्चा का न होना बहुत मायने रखता है। ऐसा हो सकता है कि इसका कारण पेरिस कम्यून के राजनीतिक ढांचे का प्रभाव रहा हो। लेकिन हुआ यह कि पेरिस कम्यून में जो स्थिति थी, उसके विपरीत यहां पार्टी महत्वपूर्ण भूमिका निभाने जा रही थी, क्योंकि अक्टूबर क्रान्ति के समय तक एक पार्टी सर्वहारा वर्ग के हरावल के रूप में विकसित हो चुकी थी, जो उनके वर्ग हितों का प्रतिनिधित्व करती थी। अतः यह एक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक सवाल था जिसको उस अवधि के दौरान हल करना आवश्यक था। लेनिन द्वारा इस सवाल की पूरी उपेक्षा कर देना एक भारी भूल थी जिसने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की समझदारी के विकास में मूलभूत गलती को जन्म दिया।"

जहां तक "पेरिस कम्यून के राजनीतिक ढांचे में, कम्युनिस्ट पार्टी की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं" होने की बात है उसका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए, बाब अवाकिएन ने बिल्कुल उचित और सही खुलासा किया है: "यदि कम्यून के भीतर प्रभावशाली शक्तियों में से किसी ने भी एक "प्रत्यक्ष" नेतृत्वकारी भूमिका निभायी होती, तो यह एक ऐसी पार्टी का नेतृत्व होता, जो सच्चाई में सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करती। इसका कारण यह है कि कम्यून में नेतृत्वकारी शक्तियां वस्तुतः कम्युनिस्ट नहीं थीं: वे समाजवादी थीं लेकिन वैज्ञानिक समाजवादी नहीं। वे मार्क्स की राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी थीं, और अगर कम्यून लम्बे समय तक टिका रहा होता और इसमें उनका नेतृत्व सुदृढ़ हो गया होता, तो इसका किसी न किसी तरह से परिणाम पूंजीवादी पनुर्स्थापना में ही हुआ होता। एक बार फिर कह दें कि एक असली कम्युनिस्ट हरावल पार्टी का अभाव कम्यून की प्राणघातक कमजोरी था। इस कमजोरी का सम्बन्ध पेरिस कम्यून के अनुभव की सीमा के बारे में कही गयी बुनियादी बात से है और इससे भी कि कैसे इस अत्यन्त सीमित अनुभव को बाद के सर्वहारा अधिनायकत्व के काफी लम्बे अनुभव के विरोध में प्रस्तुत करना गलत है -- हालांकि सच्चाई यह है कि रूसी क्रान्ति और चीनी क्रान्ति ने पेरिस कम्यून में मार्क्स द्वारा पहचानी गयी मूल भावना और कार्यदिशा को समप्रित और लागू किया।"[29]

और जहां तक लेनिन द्वारा "राज्य और क्रान्ति" में कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका की चर्चा न किये जाने का सवाल है, तो जैसा कि बॉब अवाकिएन ने सही रेखांकित किया है, "फरवरी 1917 की बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति और अक्तूबर 1917 की सर्वहारा क्रान्ति के बीच की अवधि में "राज्य और क्रान्ति" लिखने में उनका उद्देश्य बुर्जुआ राज्य को हिंसापूर्वक उखाड़ फेंकने पुरानी राज्य मशीनरी को ध्वस्त करने और राज्य के एक नये प्रकार -- सर्वहारा अधिनायकत्व की सर्जना करने की आवश्यकता प्रदर्शित करना था। तब सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत पार्टी की भूमिका नहीं बल्कि यह महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक सवाल था जिसे उस निर्णायक क्षण में तुरन्त हल किया जाना था।"[30]

"यह तो खासतौर से अक्तूबर क्रान्ति के अनुभव और उसके बाद सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता के व्यावहारिक प्रयोग के जरिये ही सम्भव हो सका कि पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका का सवाल सामने आया। तब से लेनिन लगातार अगले कई वर्षों तक सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही स्तरों पर इस सवाल से जूझते रहे। इस अवधि (सोवियत गणराज्य के आरम्भिक कुछ वर्षों और लेनिन के जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों) के उनके आलेख और भाषण इस इस सवाल के विवेचन और इससे सम्बन्धित अन्तरविरोधों के ऊपर की गयी बहसों से भरे पड़े हैं -- वस्तुतः इन आलेखों और भाषणों में से कुछ को इस सी आर सी दस्तावेज ने शुरू में उद्धृत भी किया है (बेशक ऐसा लेनिन पर जनसमुदायों के ऊपर पार्टी के अधिनायकत्व की वकालत करने का आरोप लगाने की गरज से एक विकृत तरीके से किया गया है)"[31] हां यह सच है कि अक्टूबर क्रान्ति सम्पन्न होने से पहले तक लेनिन ने पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका के सवाल पर कभी सिलसिलेवार ढंग से सोच-विचार नहीं किया कारण कि यह सवाल अभी एजेण्डे पर आया ही नहीं था। लेकिन तब यही बात, बाब अवाकिएन के ही शब्दों में "इस आरोप के खिलाफ जाती है कि लेनिन हमेशा "पार्टी का अधिनायकत्व" संस्थापित और इस पार्टी के अधिनायकत्व के बीच एक सूत्र सम्बन्ध है (यह दलील आमतौर पर सामाजिक जनवादियों और उन जैसे अन्य लोगों द्वारा दी जाती है)"।[32]

यहां पर स्वयं लेनिन को ही उद्धृत करना लाभदायक होगा, जिसे बाब अवाकियेन उद्धृत भी किया है:

" पार्टी से जरूर उन लोगों की छंटनी कर देनी चाहिए जिनका जनसमुदायों से सम्पर्क नहीं रह गया है (बेशक, उन्हें तो दरकिनार ही कर दें जो जनसमुदायों की नजर में पार्टी की साख गिराते हैं)।

स्वाभाविक तौर पर, हम हर उस बात को शिरोधार्य नहीं कर सकते जो जनसमुदाय कहते हैं, क्योंकि जनसमुदाय भी, कभी-कभी खासतौर से अत्यन्त कठिनाई और पीड़ा के फलस्वरूप उत्पन्न असाधारण थकान और क्लांति के दौर में -- ऐसे मनोभाव प्रकट करते हैं जो किसी भी

तरह से उन्नत नहीं होते। लेकिन जो अपने स्वार्थपूर्ण इरादों के कारण हमारे साथ "नत्थी" हैं, जो "घमण्डी कमिसार" और "नौकरशाह" बन चुके हैं, उन व्यक्तियों का नकारात्मक नजरिये से मूल्यांकन करने में गैर पार्टी सर्वहारा समुदायों और कई मामलों में गैर पार्टी किसानों के सुझाव अत्यन्त ही मूल्यवान करने में, गैर पार्टी किसानों के सुझाव अत्यन्त ही मूल्यवान होते हैं। मेहनतकश जनता के पास एक बारीक अन्तर्प्रेरणा होती है जो उसे ईमानदार और निष्ठावान कम्युनिस्टों को उन लोगों से अलग पहचानने में समर्थ बनाती है, जो अपने माथे का पसीना बहाकर अपनी रोटी कमाने वाली, तथा कोई विशेषाधिकार और "आकर्षण" न रखने वाली जनता की विरक्ति को भड़का देते हैं।

"पार्टी का शुद्धिकरण करने के लिए, यह बहुत महत्वपूर्ण है कि गैर-पार्टी मेहनतकश जनता के सुझावों पर ध्यान दिया जाये। इसके भारी परिणाम होंगे। यह पार्टी को अपने वर्ग का पहले से अधिक मजबूत हरावल बना देगा, यह उसे एक ऐसा हरावल बना देगा जो अपने वर्ग के साथ और अधिक दृढ़ता से सम्बद्ध होगा, जो अपने वर्ग को कठिनाइयों और खतरों के अम्बार के बीच से ले चलते हुए उसे विजय की मंजिल तक ले जाने में अधिक सक्षम होगा" (**लेनिन**, *पर्जिंग द पार्टी*)।

यहां बॉब अवाकिएन का कहना सही है कि "नौकरशाहीकरण के विरुद्ध ये शुद्धिकरण और अन्य उपाय जो लेनिन के नेतृत्व के अन्तर्गत अख्तियार किये गये, अपने आप ही समस्या का समाधान नहीं कर सकते थे और ऐसा हुआ भी नहीं – इनके द्वारा उन अन्तर्निहित अन्तरविरोधों का हल नहीं हो सका और न ही किया जा सकता था, जिन्होंने नौकरशाहीकरण को, पार्टी और राज्य के पदाधिकारियों के बीच कैरियरवाद को, और तमाम ऐसी अन्य चीजों को जन्म दिया था। लेकिन ये नीतियां त्रुटिहीन रूप से लेनिन के इस दृढ़ निश्चय को दिखाती हैं कि वह, इस तरह के कैरियरवाद और नौकरशाहीकरण एवं ऐसी किसी भी प्रवृत्ति से निपटने के लिए कटिबद्ध थे जो पार्टी और राज्य को उनके विपरीत में जनसमुदायों के ऊपर अधिनायकत्व के उपकरणों में तब्दील कर देने को आतुर थे।

"यह समस्या संघर्ष के नये नवोन्मेषों, नये साधनों और नये तरीकों की मांग करती थी -- और चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत एक ऐसा ही नया नवोन्मेष ऐसा ही नया साधन और तरीका थी। लेकिन जैसा कि माओ ने कहा था, एक सांस्कृतिक क्रान्ति सारी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकती। न ही यह वर्ग-संघर्ष और जन-उभारों के वस्तुगत लहररूपी चरित्र को समाप्त कर सकती थी। जैसा कि माओ ने कहा था, साम्यवाद की अन्तिम उपलब्धि के रास्ते में कई सांस्कृतिक क्रान्तियां करनी होंगी, फिर भी हर समय सांस्कृतिक क्रान्तियां होती नहीं रह सकतीं। उन दिनों, जब सांस्कृतिक क्रान्ति सम्भव न हो, नौकरशाहाना प्रवृत्तियों से निश्चित रूप से निपटा जाना चाहिए, और अपेक्षाकृत अधिक बुनियादी तौर पर, जनसमुदायों के सचेत सक्रियतावाद को अधिकतम सम्भव सीमा तक गतिशील बनाने के साधन अवश्य खोजे जाने चाहिए। लेकिन इसमें से कोई भी पूंजीवादी पुनर्स्थापना के विरुद्ध एक लौह-आवृत्त गारण्टी नहीं दे सकता, या न ही इस तथ्य को तब्दील कर सकता है कि ऐसी कालावधियां आयेंगी ही जिनमें क्रान्ति की "बेचैनी" और जनता की पहलकदमी एक उत्तुंग शिखर पर, यहां तक कि, समाजवादी समाज में भी, नहीं होगी।"[33]

लेकिन इस दस्तावेज के अनुसार "सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की पूरी व्यवस्था जो लेनिन से लेकर माओ तक लागू की जाती रही है, असफल हो गयी", कारण कि इसने सी-आर-सी दस्तावेज में वर्णित "ऐसी नयी राजनीतिक व्यवस्था" का संस्करण नहीं प्रतिपादित किया, और इस दस्तावेज की इस कल्पना दृष्टि के अनुसार आचरण नहीं किया कि कैसे राज्यसत्ता के विलोपीकरण (या "पूरे समाज द्वारा राज्यसत्ता को फिर से अपने में समाहित कर लेने" -- जैसा कि मार्क्स ने कहा था) की बात को अंजाम दिया जाये! अब, आइए, जरा इसको भी देख लें कि यह दस्तावेज कौन सी "एक ऐसी नयी राजनीतिक व्यवस्था" का प्रतिपादन करता है और उसे अंजाम देने के लिए क्या उपाय सुझाता है।

वैकल्पिक व्यवस्था का प्रतिपादन : "निश्चित रूप से सर्वहारा राजनीतिक सत्ता की एक गुणात्मक रूप से नयी समझदारी ही प्रस्थान बिन्दु बननी चाहिए। इसे निश्चित तौर पर, पेरिस कम्यून के बारे में मार्क्स की धारणा को, पूरे समाज द्वारा राज्य सत्ता को फिर से अपने में समाहित कर लेने के रूप में, प्रतिबिम्बित करना चाहिए। इस तरह सर्वहारा राज्य को बुर्जुआ राज्य जैसा या फिर समाजवाद के अन्तर्गत उस राज्य की भांति नहीं होना चाहिए जिसे कम्युनिस्टों ने अबतक लागू किया है, जिसके तहत पूरी सत्ता केन्द्रीकृत राज्य के ढांचे में ही केन्द्रीभूत कर दी गयी थी। इसे एक ऐसी नयी राजनीतिक व्यवस्था का रूप लेना होगा जिसमें राज्य, समाज द्वारा राज्यसत्ता को फिर से अपने में समाहित कर लेने की प्रक्रिया की शुरूआत करके एक राज्य के रूप में अपना अस्तित्व समाप्त कर लें।"

उपाय : "समाज द्वारा राज्यसत्ता को फिर से अपने में समाहित कर लेने की प्रक्रिया राजनीतिक सत्ता के ऐसे विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न होगी जिसका लक्ष्य उस अवस्था को प्राप्त करना होगा, जब पूरे समाज की (राजनीतिक) इच्छा, बिना राज्य की मध्यस्थता के, सीधे तौर पर, अभिव्यक्त और पूरी हो सकेगी। एक ऐसी व्यवस्था केवल तभी विकसित की जा सकती है, जब उत्पादन के साधनों का सही मायने में समाजीकरण कर लिया जाये, और इसे भी तभी ही सुनिश्चित किया जा सकता है, जब एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था हो, जो सर्वहारा जनवाद निश्चित कर दे। एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था, जिसमें समाजीकृत आर्थिक मूलाधार और सर्वहारा जनवादी राजनीतिक व्यवस्था इसके सम्पूरक पहलू हों, निश्चित तौर पर अपने ही बलबूते जीवित रहने वाली एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था होगी, जो सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व के अन्तर्गत पूरी जनता को स्वीकार्य होगी और उसके द्वारा इस्तेमाल में लायी जायेगी।"

केन्द्रीकरण के विरुद्ध विकेन्द्रीकरण की वकालत करने वाले इस दस्तावेज में, जैसा कि बॉब अवाकियेन ने एकदम सही इंगित किया है, "सर्वहारा वर्ग के अपने शक्तिशाली केन्द्रीकृत राज्य के द्वारा शासन और अर्थव्यवस्था पर उसके केन्द्रीकृत नियंत्रण के प्रति वही क्लासिकीय निम्न बुर्जुआ विद्वेष प्रतिबिम्बित है। यह दस्तावेज, अपने अंतिम निष्कर्ष में, आह्वान करता है कि जैसे ही सर्वहारा वर्ग अपने शासन का सुदृढ़ीकरण और स्वामित्व का समाजीकरण कर ले, वैसे ही सर्वहारा राज्य को समाप्त कर दिया जाये, तथा इसके स्थान पर एक राज्येतर (नान स्टेट) जनवादी राजनीतिक व्यवस्था लागू कर दी जाये।"[34] तभी तो अपने उपाय को अमल में लाने का व्यावहारिक सुझाव देते हुए दस्तावेज कहता है : "सर्वहारा वर्ग की हरावल पार्टी को तबतक नेतृत्वकारी भूमिका अदा करनी होगी * जबतक कि नयी राजनीतिक व्यवस्था प्रभावी रूप से कार्य करना न शुरू कर दे, जिसके लिए इसे उत्पादन के साधनों के समाजीकरण की प्रक्रिया को पूरा कर लेना होगा तथा उसके बाद सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व के अन्तर्गत नये सत्ताधारी वर्गों के हाथों में सत्ता का पर्याप्त रूप से सुदृढ़ीकरण कर लेना होगा।

* यहां दस्तावेज मानो कम्युनिस्ट पार्टी की "प्रत्यक्ष भूमिका" के लिए एक आरम्भिक और अल्पावधिक छूट देने की कृपा करता है।)

एक बार यह हो जाने के बाद, कम्युनिस्ट पार्टी को चाहिए कि वह क्रान्तिकारी रूपान्तरण के अपने एकाधिकारिक नियंत्रण को हटा ले तथा व्यवस्था को अपने ही बलबूते चलने दे। सर्वहारा जनवादी व्यवस्था के अन्तर्गत, इस नयी व्यवस्था की प्रभावकारिता जनता द्वारा एक खुली जनवादी प्रक्रिया के जरिए स्वीकार या इन्कार की जायेगी, जिसमें पूरी जनता अपने निजी राजनीतिक संगठनों के जरिये या अन्य किसी प्रकार से, स्वतंत्रतापूर्वक शिरकत करेगी।''

सी-आर-सी दस्तावेज द्वारा प्रतिपादित ''नयी व्यवस्था'' का यह चित्रण, जिसमें ''पूरी जनता'' एक ''खुली जनवादी प्रक्रिया'' के जरिए, ''स्वतंत्रतापूर्वक'' शिरकत करेगी, अपने तमाम हास्यास्पद तर्क जालों के साथ, अपनी अन्तिम निष्पत्ति में, ख्रुश्चेवी संशोधनवाद की ''पूरी जनता के राज्य'' और ''समाजवाद की ओर शांतिपूर्ण संक्रमण'' की थीसिस से ही मेल खाता है।

लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण सवाल, जिसे बॉब अवाकिएन ने उठा ही दिया है, वह यह है कि आखिर इस ''नये समाज में कब से और किस मानदण्ड के अनुसार पार्टी को एक संस्थाबद्ध नेतृत्वकारी भूमिका अदा करना बन्द कर देना चाहिए......। कौन निर्धारित करेगा कि कब ''सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व के अन्तर्गत नये सत्ताधारी वर्गों के हाथों में सत्ता का पर्याप्त रूप से ''सुदृढ़ीकरण'' हो जायेगा कि पार्टी को यह भूमिका छोड़ देनी होगी? क्या पार्टी ही इसका निर्णय करेगी? लेकिन तब तो यह स्वयं में एक अन्तरविरोध है -- कैसे पार्टी जनसमुदायों के लिए यह निर्णय कर सकती है कि अब उन्हें पार्टी की संस्थाबद्ध नेतृत्वकारी भूमिका की आवश्यकता नहीं है? या, यदि इसका निर्णय पार्टी न करे, तब किसके द्वारा और किन साधनों से इसका निर्णय किया जायेगा? क्या जनता इस पर मतदान करेगी? लेकिन तब कौन यह तय करेगा कि कब ऐसे मतदान को आयोजित करने का समय होगा, इस मतदान के निर्णय को कौन संगठित करेगा, इसके लिए कौन नियम, वगैरह बनायेगा? इन सवालों की हास्यास्पदता इस सी-आर-सी दस्तावेज द्वारा प्रस्तुत सम्पूर्ण लाइन में अन्तर्निहित भाववाद का ही एक प्रतिबिम्बन है।''[35]

इस भाववाद की बुर्जुआ अन्तर्वस्तु तब और भी अनावृत्त हो जाती है जब यह सीआरसी दस्तावेज इस ''नयी व्यवस्था'' के लिए अपनी ''नयी कार्यदिशा'' प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार, पार्टी को सत्ता पर कब्जा करने के समय से ही, यहां तक कि तब भी जब अभी, इस दस्तावेज के अनुसार, उसके लिए हरावल की भूमिका अदा करना आवश्यक है, ''अपना प्राधिकार, जनता निर्वाचित निकायों के माध्यम से, केवल राजनीतिक रूप से ही जताना चाहिए'', तथा पार्टी को एक ''खुली पार्टी'' के रूप में ही कार्य करना चाहिए, और उसमें, ''बहुत जनवादी होने, यहां तक कि उसमें सिद्धान्ततः गुट आदि की भी इजाजत होनी चाहिए।''

इस पर बॉब अवाकिएन की टिप्पणी बहुत वाजिब है कि ''इस तरह की पार्टी तो किसी ऐसे समाजवादी समाज के लिए ही उपयुक्त हो सकती है जो किसी काव्य के कल्पना लोक में स्थित हो, जहां कोई साम्राज्यवादी घेरेबंदी न हो, ऐसी कोई जमीन न हो जो स्वयं ऐसे समाजवादी समाज के भीतर निरन्तर बुर्जुआ वर्ग को पैदा करती हो, स्वंय जनसमुदायों के भीतर कोई उल्लेखनीय सामाजिक विभेदीकरण और वर्ग-अन्तरविरोध न हो, शोषक वर्गों का कोई विचारधारात्मक प्रभाव न हो, आदि-आदि।.......एक ऐसी ''खुली पार्टी जो अपने भीतर ''सिद्धान्तः'' गुट आदि की इजाजत दे, सुनने में तो ''बहुत जनवादी'' लग सकती है, लेकिन यथार्थ में यह एक ऐसी पार्टी का नुस्खा है जिसके कई भिन्न-भिन्न ''केन्द्र'' होंगे, जिनमें से कोई भी इस योग्य नहीं होगा कि वह सर्वहारा के क्रान्तिकारी हितों का प्रतिनिधित्व कर सके -- खासतौर से, तीखे वर्ग-संघर्षों की अवधियों में ऐसी पार्टी बुर्जुआ गुटबाजी में पतित हो जायेगी। बेशक यह सब कुछ ''बहुत जनवादी'' है -- बहुत बुर्जुआ जनवादी है। इसमें अन्तर्निहित ''सिद्धान्त'' बुर्जुआ सिद्धान्त है।''[36]

अन्त में, इस आलेख का समापन करते हुए, निष्कर्ष के तौर पर, हम पुनः बॉब अवाकिएन को ही उद्धृत करते हैं :

''सर्वहारा जनवाद पर'' -- इस दस्तावेज के साथ, इसके लेखक एक ऐसी स्थिति में पश्चगमन कर गये है कि वहां वास्तव में न तो यह सम्भव है, और न ही वांछनीय है कि वे बुर्जुआ अधिकार, यहां तक कि औपचारिक बुर्जुआ जनवाद के भी संकीर्ण क्षितिज को लांघ सकें। इस सवाल के जवाब में कि क्या हम इससे बेहतर व्यवस्था नहीं दे सकते, उनका जवाब है : नहीं। अपनी हर तरह की घोषणाओं या इरादे के बावजूद कि वे कम्युनिज्म के अन्तिम लक्ष्य को स्वीकार करते हैं, वे न केवल प्रकट बुर्जुआ वर्ग के ही ''क्लासिकीय मूल विषय'' की ओर लौट गये हैं, बल्कि बुर्जुआ समाजवादियों का वही पुराना घिसा-पिटा राग अलाप रहे हैं -- वे उन लोगों के सहगान में शामिल हो गये हैं, जो आजकल और भी जोर-शोर से घोषणा कर रहे हैं कि हम मानव इतिहास की उस अवस्था से परे नहीं जा सकते और न ही जाना चाहिए, जहां समाज वर्गों में विभाजित बना रहे और उसमें सामाजिक शत्रुताएं बरकरार रहें।......

समाजवादी समाज में सर्वहारा अधिनायकत्व के ऐतिहासिक अनुभव को खारिज करने का यही तर्क है और कम्युनिस्टों को इससे वास्तविक सबक अवश्य निकालने चाहिए कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के स्थान पर एक भ्रामक जनवाद की मांग रखना समाजवाद की दशाओं के अन्तर्गत असम्भव, और अनपेक्षित है; तथा विश्वव्यापी पैमाने पर कम्युनिस्ट समाज की लक्ष्य प्राप्ति के लिए अनावश्यक है, और सर्वोपरि तौर पर, यह इस लक्ष्य-प्राप्ति को असम्भव भी बना देगा।''[37]

सन्दर्भ

1. एजाज अहमद, 'मेल बनाते देरिदा : 'मार्क्स के प्रेत' और विखण्डनवादी राजनीति', पहल, 50-51 (संयुक्त अंक), नई दिल्ली, 1994 पृ. 91

2. जाक देरिदा, 'मार्क्स के प्रेत' पहल, 50-51 (संयुक्त अंक), नई दिल्ली, 1994, पृ. 49

3. देखें सन्दर्भ 1, पृ. 85

4. वही, पृ.94 5. वही, पृ. 104

6. रामविलास शर्मा, 'जाति, नवजागरण और मार्क्सवाद', पहल 50-51 (संयुक्त अंक), नई दिल्ली, 1994

7. रामनाथ (सम्पा.), 'कम्युनिस्ट' अंक 1 (मई-अगस्त) 1988 भारत की कम्युनिस्ट लीग (मा-ले), पृ. 21

8. बॉब अवाकिएन 'जनवाद : इससे बेहतर व्यवस्था हम दे सकते है और हमें देनी ही होगी' नेपाल कम्युनिस्ट पार्टी (मसाल) द्वारा प्रकाशित, 1992, पृ. 4

9. वही. पृ. 6 10. वही. पृ. 7-8

11. वही. पृ. 13 12. वही. पृ. 12-

13. वही. पृ. 12 14. वही. पृ. 12

15. 13 16. वही. पृ. 13 17. वही. पृ. 14

18. वही. पृ. 15-16 19. वही. पृ. 17

20. वही. पृ. 17&18 21. वही. पृ. 21

22. वही. पृ. 21 23. लेनिन, 'प्रिलिमनरी ड्राफ्ट रेज़ल्यूशन आफ द टेन्थ कांग्रेस ऑफ द आर सी पी ऑन द सिण्डीकलिस्ट ऐण्ड एनार्किस्ट डेविएशन इन अॅवर पार्टी', अगेंस्ट राइट-विंग ऐण्ड लेफ्ट-विंग आपर्टयूनिज्म, अगेंस्ट ट्राट्स्किइज्म, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1971, पृ. 573-14

24, 25, देखें सन्दर्भ 22 पृ. क्रमशः, 23,24,25, 26,27,28

28. वही. पृ.24-25 29. वही. पृ. 44

30. वही. पृ. 45 31. 32. वही. पृ. 45

33. वही. पृ. 48-49 34. वही. पृ. 69

35. वही. पृ. 73 36. वही. पृ. 74 & 75

37. वही. पृ. 92 & 93

दायित्वबोध यहां से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश

- संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, गोरखपुर - 273001
- जनचेतना, जाफरा बाजार, गोरखपुर - 273001
- विजय इनफारमेशन सेण्टर, कचहरी बस स्टैण्ड, गोरखपुर
- राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ - 226010
- जनचेतना स्टाल, काफी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 7 बजे तक)
- सत्यम वर्मा, यूनीवार्ता, काजमी चैम्बर्स, 5 पार्क रोड, लखनऊ
- ओमप्रकाश सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
- इण्डियन बुक डिपो, अमीनाबाद, लखनऊ
- विश्वनाथ मिश्र, चेतना कार्यालय, बड़हलगंज, गोरखपुर-273402
- अरविन्द सिंह, 119, बिड़ला छात्रावास, बी.एच.यू., वाराणसी - 221005
- शहीद पुस्तकालय, द्वारा, डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवा सदन, मर्यादपुर, मऊ
- अमृत लाल पाण्डेय, निकट प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, बसखारी, जि. अम्बेडकरनगर
- प्रो. प्यारे लाल, 139, फूलबाग कालोनी, पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय, पंतनगर - 263145
- डॉ. डी.के. सचान (शस्य वैज्ञानिक), ए-308, आवास विकास (गंगापुर), रामनगर- 244901
- श्री. ए.के. त्रिपाठी, 21, विश्वविद्यालय मार्ग, इलाहाबाद
- श्री राम धीरज, स्वराज्य स्टेशनर्स, प्रयाग चुंगी, मोती लाल नेहरू मार्ग, इलाहाबाद
- करेंट बुक डिपो, 18/53, माल रोड, (फूलबाग के सामने), कानपुर-208001
- प्रतिभा प्रकाशन, (पेप्सी होटल के नीचे), स्टेशन रोड, बलिया, पिन-277001
- राजेन्द्र प्रसाद, रेणु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, रेणुकूट, सोनभद्र

बिहार

- चन्द्रकेतु नारायण शर्मा, एडवोकेट, सांची पट्टी, बागमली गाछी, स्थान-पोस्ट-हाजीपुर, जिला - वैशाली - 844101
- समकालीन प्रकाशन (प्रा.) लि., पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, पटना - 800003
- अविनाश कुमार सिन्हा/रणजीत कुमार श्रीवास्तव, द्वारा, शैलेन्द्र श्रीवास्तव, बरियारी चक, पो. मेंहसी, पूर्वी चम्पारण
- राजकमल प्रकाशन, साइंस कालेज के सामने, अशोक राजपथ, पटना
- पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, पटना काले · के सामने, पटना - 800004
- मैत्रेयी साहित्य संगम, (सर्वे आफिस के सामने), लाल बाग, के. डी.एस., दरभंगा - 846008
- विजय कुमार आर्य, सचिव - 'मजदूर संगठन समिति', गुरारू चीनी मिल्स, गुरारू, पो.- गुरारू, जि. - गया - 824118
- वी. प्रशान्त, कन्हौली (बी.एम.पी. 6 से पूरब), मुजफ्फरपुर - 842001
- रामपुकार सिंह, ग्रा.-पो. - भदई, जि. - मुजफ्फरपुर
- विद्यानन्द सिंह, वार्ड न. 4, सुपौल - 852131
- भुवन वेणु, 'प्रतीक्षा', मधुबनी - चूनापुर रोड, पूर्णिया - 854301

दिल्ली

- एतकाद अहमद, डिपार्टमेण्ट ऑफ फाउण्डेशन आफ एजुकेशन, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली - 110025
- सेंट्रल न्यूज एजेन्सी, 29/30, कनाट सर्कस, नई दिल्ली
- बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, सफदर हाशमी मार्ग, मण्डी हाउस, नई दिल्ली
- गीता बुक सेण्टर, शापिंग काम्प्लेक्स, जे.एन.यू., नई दिल्ली
- बोधन लाल एण्ड कम्पनी, क्लॉक टॉवर के पास, शिवाजी स्टेडियम, नई दिल्ली
- जवाहर बुक सेण्टर, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
- पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मरीना होटल बिल्डिंग, कनाट प्लेस, नई दिल्ली

मध्य प्रदेश

- जयप्रकाश जायसवाल, 'पितृछाया', अमृतसागर कालोनी, एम.आई. जी., 96-97, रतलाम - 457001
- चिंचोलकर बुक हाउस, बस स्टैण्ड, जगदलपुर, बस्तर

महाराष्ट्र

- परिदृश्य प्रकाशन, 6, दादी संतुक लेन, इंजीनियर हाउस, धोबी तालाब, मुम्बई - 400001
- सतीश कालसेकर, पीपुल्स बुक हाउस, मेहर हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, मुम्बई - 400001
- शैलेश वाकड़े, विजयालक्ष्मी नगर, टीचर्स कालोनी, बल्लारपुर, जि.- चन्द्रपुर - 442701
- सूर्यदेव उपाध्याय, लेनिन लाइब्रेरी, उल्हासनगर-4, जि.- ठाणे

पश्चिम बंगाल

- राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मन्दिर प्रधान नगर, सिलीगुड़ी, दार्जीलिंग - 734401
- बुक मार्क, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता - 700073
- जनार्दन थापा, लुकसान बाजार, पो.आ. - केरन, जि. - जलपाईगुड़ी, पिन - 735205
- श्याम अविनाश, स. 'सरोकार', साहेब बांध रोड, पुरुलिया-723101

असम

- शर्मा बुक स्टाल, थाना रोड, चराली, तिनसुकिया - 786125
- दिनकर कुमार, चाणक्य पथ, जी एस रोड, दिसपुर, गुवाहाटी - 781005

- डा. हरियश राय, ए-205, सुजल अपार्टमेण्ट, सेटेलाइट रोड, रामदेव नगर, अहमदाबाद - 380054
- एस.आर. हरनोट, हिमाचल पर्यटन, रिट्ज एनैक्सी, शिमला, - 171001
- नरभिंदर सिंह, द्वारा, डा. सुखदेव हुंदल, ग्रा.पो.- संतनगर, जिला-सिरसा (हरियाणा) - 125075
- गोविन्द अक्षय, 'सारस्वत सदन', 13-6-411/2, रामसिंहपुरा, कारवान, हैदराबाद -500067, आन्ध्रप्रदेश
- ंसा प्रकाशन, 316, खूंटेटों का रास्ता, किशन पोल बाजार, जयपुर (राजस्थान) - 302001
- गाला **बुक्स**, Junxon- SOR, ASKA-761110, Orissa

नेपाल

- पुस्तक पत्रिका **बिक्री** वितरण केन्द्र, डिल्ली बाजार, चढ़ाव के पास, निकट पद्मकन्या स्कूल, काठमाण्डू
- जलजला पुस्तक सदन, धमवोजी चौक, नेपालगंज, बांके
- विशाल पुस्तक पसल, अस्पताल लाइन, बुटवल, लुम्बनी

अज्ञान एक राक्षसी शक्ति है और हमें डर है कि यह कई त्रासदियों का कारण बनेगा। सबसे महान यूनानी कवियों ने इसे मीकेन तथा थेब्स के शाही घरानों के जीवन के हृदयविदारक नाटकों में ठीक ही त्रासदीपूर्ण नियति के रूप में चित्रित किया है। — मार्क्स

मनुष्य को अचिन्तनशील, असामाजिक प्राणी में तब्दील
कर देने वाली घोर प्रतिक्रियावादी संस्कृति के चौतरफा आक्रमण,
घटिया साहित्य के घटाटोप और अपसंस्कृति के अंधेरे में
जनता की संस्कृति का एक सजग प्रहरी

जनचेतना

प्रगतिशील साहित्य का उत्कृष्ट प्रतिष्ठान

देश विदेश की क्लासिकी कृतियां, प्रतिनिधि समकालीन साहित्य, मानविकी और विज्ञान की चुनी हुई स्तरीय पुस्तकें, मार्क्सवादी साहित्य, वामपंथी राजनीतिक पत्रिकाएं, प्रगतिशील साहित्यिक पत्रिकाएं, उत्कृष्ट और सस्ता बाल साहित्य, कविता पोस्टर, क्रान्तिकारी जनसंगठनों का प्रचार–साहित्य, प्रगतिशील गीत–संगीत के कैसेट, बिल्ले, स्टिकर, कैलेण्डर व हर प्रकार की क्रान्तिकारी प्रचार–सामग्री को आम जनता के बीच ले जाने के मिशन में हम पिछले नौ वर्ष से कार्यरत हैं।

इस मिशन में हमारे हमसफर बनें।

अच्छे साहित्य की खरीद को अपने बजट का जरूरी मद बनाएं। आज ही हमसे मिलें या डाक से पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें।

- जाफरा बाजार, गोरखपुर–273001 (मंगलवार अवकाश)
- हजरतगंज (काफी हाउस के निकट) लखनऊ
  (प्रतिदिन शाम 5 से 7 बजे तक, रविवार अवकाश)

 पंजीयन संख्या - 56076/92

अंधकार को क्यों धिक्कारें
अच्छा है एक दीप जलाएँ
एक एक भी अगर पढ़ाएँ
सारे अनपढ़ पढ़ लिख जाएँ

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन